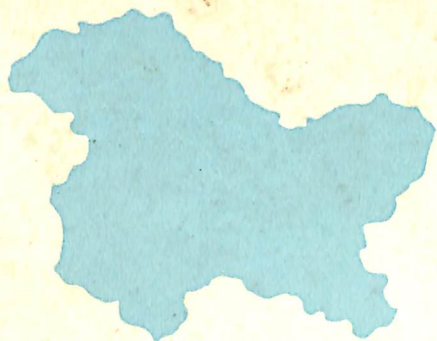
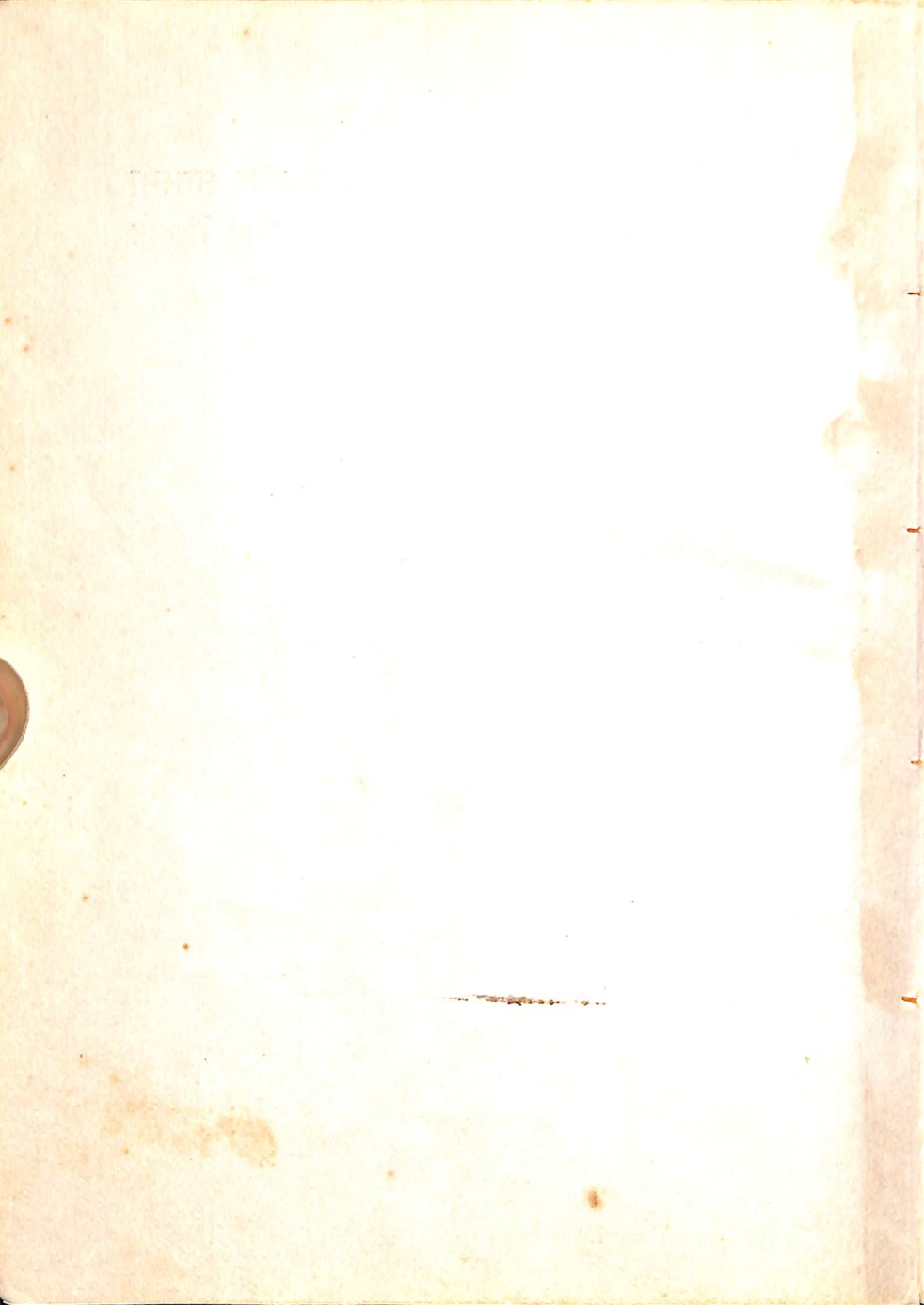


बलराज मधोक

कश्मीर

जीत में हार





DR. B.K. DEAMBI

25/6/93

ALMORA

कश्मीर समस्या जीत में हार

बलराज मधोक

भारती साहित्य सदन, नई दिल्ली

© बलराज मधोक

मूल्य : बीस रुपये

प्रकाशक : भारती साहित्य सदन

३०/६०, कनाॅट सर्कस (मद्रास होटल के नीचे)

नई दिल्ली-११०००१

संस्करण : १९९१

मुद्रक : अजय प्रिण्टर्स

नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

श्री पंडित प्रेमनाथ डोगरा

जिन्होंने अपना सारा जीवन
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, प्रजा परिषद्
और भारतीय जनसंघ के माध्यम से
जम्मू-कश्मीर के लोगों की सेवा
और इस राज्य को भारत का
अभिन्न अंग बनाने के लिए लगाया
को

सादर समर्पित



अनुक्रम

प्रवेश	...	६
पृष्ठभूमि	...	१२
१. जम्मू-कश्मीर राज्य के निर्माण में जम्मू की भूमिका	...	१७
२. जम्मू प्रजा परिषद् का निर्माण	...	२४
३. भिम्बर का पतन	...	३५
४. मीरपुर का हत्याकाण्ड	...	४०
५. कोटली की गौरव-गाथा	...	४७
६. राजौरी का जौहर	...	५२
७. पुँछ की सुरक्षा	...	५७
८. गिलगित और बलितस्तान का पतन	...	६२
९. शेख अब्दुल्ला का भीतरघात	..	६८
१०. कुँवर दिलीपसिंह का त्यागपत्र	...	७३
११. भारत : राष्ट्रसंघ के कठघरे में	...	७८
१२. झंगड़ का पतन	...	८२
१३. एक ऐतिहासिक पत्र	...	८७
१४. सरदार पटेल और पं० नेहरू से भेंट	...	९०
१५. खंडित कश्मीर : युद्धबन्दी और उसके परिणाम	...	९५
१६. भारत के संविधान में कश्मीर-सम्बन्धी अस्थायी धारा ३७० का समावेश	...	९६
१७. डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी का महान् बलिदान	...	१०४
१८. शीत-युद्ध की छाया	...	१०६
१९. पाक-चीन गठजोड़ और कश्मीर : चीन की भूमिका	...	११४

२०. नेहरू का अन्तिम प्रयास	... ११६
२१. १९६५ का युद्ध	... १२४
२२. जीत में हार	... १३२
२३. शेख अब्दुल्ला की सत्ता में वापसी	... १३७
२४. प्रच्छन्न युद्ध—टोपाक योजना	... १४४
२५. हारी बाजी को जीतने के उपाय	... १५१
२६. उपसंहार	... १५६

प्रवेश

‘जीत में हार’ विशेषतः जम्मू और सामान्यतः कश्मीर तथा विराट् राष्ट्र पर पाकिस्तानी आक्रमणों का प्रौढ़, गम्भीर किन्तु अतीव रोचक वृत्त प्रस्तुत करने वाला ऐसा उत्कृष्ट ग्रन्थ है, जिसे एक ऐसे लेखक ने लिखा है जो विशेषतः जम्मू-कश्मीर और सामान्यतः विराट् राष्ट्र के अधिकांश घटनाचक्रों से सम्बद्ध रहे हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत वृत्त यत्र-तत्र-सर्वत्र वैयक्तिक स्पर्शों और अनुभूतियों से संपृक्त है। भाषा स्तरीय होते हुए भी प्रसाद-गुण से सम्पन्न है। आपात्स्थिति के मध्य कारागार में लिखा गया यह ग्रन्थ भारत की विदेश-नीति की अनेकानेक असफलताओं पर प्रभावी और मौलिक प्रकाश डालता है। प्रोफ़ेसर बलराज मधोक इतिहास के विद्वान् प्राध्यापक और सुविख्यात राजनीतिज्ञ हैं। हिन्दी और अंग्रेज़ी में उनके द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थ उनके सक्रिय और सक्षम व्यक्तित्व के कारण और अधिक प्रभावी और महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक नेता, जम्मू-कश्मीर प्रजा परिषद् के संस्थापक और मन्त्री, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् के संस्थापक, भारतीय जनसंघ के एक संस्थापक और अध्यक्ष तथा संसद (लोकसभा) के दो बार सदस्य रह चुकने वाले प्रोफ़ेसर बलराज मधोक देश के इतिहास में एक निश्चित स्थान बना चुके हैं। वे हृदय से देश-भक्त, मस्तिष्क से राजनीतिज्ञ और आत्मा से आर्य हैं। स्पष्टवादिता और साहस के कारण वे अनेक बार कारागार की यातनाएँ झेल चुके हैं। जब वे युवक थे, तभी शेख अब्दुल्ला ने उन्हें और उनके कारण उनके परिवार के सदस्यों को भी जम्मू-कश्मीर से निष्कासित कर दिया था। अतएव, संघर्ष उनकी प्रकृति का अंग बन गया है। जो उनके निश्छल, सरल और वीरता-पूर्ण व्यक्तित्व से गहराई के साथ परिचित नहीं हैं, वे चाहे जो कहें, किन्तु उनका त्याग, उत्सर्ग और देश-प्रेम आज भी जानने वालों के मस्तक झुकवा

देता है और कल भी झुकवाएगा, इसमें सन्देह नहीं।

‘जीत में हार’ का अभिप्राय १९४७, १९६५ और १९७१ के पाक-आक्रमणों में भारतीय सेना की बलिदानमयी जीतों और, अनवरत रूप से, भारतीय शासकों की राजनैतिक मोर्चों पर हारों से सम्बद्ध है। सैनिक दृष्टि से प्रत्येक बार सफलता पाने पर भी राजनैतिक दृष्टि से हम प्रत्येक बार हारते रहे। १९४७ के आक्रमण में पाकिस्तान जम्मू-कश्मीर राज्य (उसके भारत में विलय के कारण तत्त्वतः और वस्तुतः भारत) का तीस हज़ार वर्गमील से अधिक क्षेत्र हड़प ले गया, हज़ारों हिन्दू मारे गए, हज़ारों स्त्रियों ने जौहर किये, लाखों हिन्दू अपने वतन से खदेड़ दिए जाने के कारण शरणार्थी बने, उनकी करोड़ों की सम्पत्ति लुट गई और बड़ी संख्या में सैनिकों ने बलिदान दिये, राष्ट्र की अपार वैक्तिक क्षति हुई। इस पर भी, संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत अभियुक्त ही बना रहा ! १९६५ के दो आक्रमणों में पहले के कारण पाकिस्तान कच्छ के रण का एक भाग पा गया और बाद में भी उसको लाभ ही रहा। १९७१ के युद्ध में बांग्लादेश तो बना पर उसमें हुए घटनाचक्र के कारण भारत को कोई लाभ नहीं हुआ और पाकिस्तान शिमला-समझौते में लाभ भी उठा गया। इन मुख्यतः तीन और सामान्यतः चार युद्धों का जो गम्भीर लेखा-जोखा प्रोफ़ेसर बलराज मधोक ने प्रस्तुत किया है, वह आँखें खोलने वाला है। सामान्य व्यक्ति तो दूर, अनेक अच्छे-अच्छे विद्वानों, नेताओं और पत्रकारों तक को इन युद्धों में हुई राष्ट्रीय क्षति का सम्यक् बोध नहीं है। अतएव, इन पर एक गम्भीर ग्रन्थ लिखकर प्रो० मधोक ने राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। हिन्दी में इस प्रकार की मौलिक पुस्तकें नहीं के बराबर हैं, क्योंकि सांस्कृतिक पराधीनता के अब भी विद्यमान होने के कारण अधिकारी विद्वान्, नेता और पत्रकार इत्यादि अंग्रेजी में ही लिखने में गौरव का अनुभव करते हैं।

जम्मू-क्षेत्र के अनेक नगरों, उपनगरों और ग्रामों के पतन के समय प्रो० मधोक जम्मू नगर में विद्यमान थे। कालान्तर में एक ख्यातिप्राप्त राष्ट्रीय नेता होने के कारण वे सारे ऐतिहासिक घटनाचक्रों का निकट से अध्ययन करते रहे। इन कारणों से ‘जीत में हार’ एक अतीव प्रामाणिक और प्रशस्य ग्रन्थ बन गया है। यह कहा जा सकता है कि सैनिक और

आर्थिक दृष्टियों में कमजोर होने के कारण भारतीय नेतृत्व के समक्ष अनेक विवशताएँ भी थीं, एक सीमा तक अब भी हैं। प्रो० मधोक का भारत की विदेश-नीति की असफलताओं का विवेचन काफ़ी दूरी तक तथ्यपूर्ण है। उन्होंने वस्तुपरक दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं की, भले ही एक प्रखर राष्ट्रवादी होने के कारण वे यत्र-तत्र उग्र हो गए हों।

प्रो० मधोक अपने 'खण्डित कश्मीर', 'जीत या हार', 'डा० श्यामा-प्रसाद मुखर्जी—एक जीवनी' तथा 'कश्मीर : सेंटर ऑफ़ न्यू अलाइन्मेंट्स' जैसे ग्रन्थों के लेखक होने के कारण कश्मीर-विषयक सर्वाधिक महत्वपूर्ण लेखक कहे जा सकते हैं। 'जीत में हार' इसी शृंखला की एक सशक्त कड़ी है। जब कभी 'हिन्दी में कश्मीर-सम्बन्धी साहित्य' तथा 'हिन्दी में विभाजन-सम्बन्धी साहित्य' जैसे विषयों पर शोध-ग्रन्थ लिखे जाएँगे, प्रो० मधोक का स्मरण गौरव से किया जाएगा। मातृभाषा पंजाबी होने पर भी, अंग्रेज़ी पर पूर्ण अधिकार रखते हुए भी, उन्होंने राष्ट्रभाषा में अनेक ग्रन्थ रचकर उसके भण्डार की श्रीवृद्धि की है। उनकी हिन्दी में पंजाबी के शब्द, मुहावरे और उसकी कहावतें प्रशस्य रूप से पिरोई गई हैं, जिससे राष्ट्रभाषा के आयाम व्यापक हुए हैं, पंजाबी की प्राणवत्ता से उसका परिचय हुआ है। पंजाब के अनेक सपूतों ने हिन्दी की सेवा की है। सुदर्शन, यशपाल, अज्ञेय, अश्वक, मोहन राकेश इत्यादि की संख्या काफ़ी बड़ी है। राजनैतिक और ऐतिहासिक विषयों पर अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखने के कारण, इस दिशा में प्रो० मधोक का भी एक निश्चित स्थान माना जाना चाहिए। 'पंजाब से सम्बद्ध हिन्दी-लेखक' जैसे किसी भी शोध-ग्रन्थ में उनका उल्लेख अवश्य किया जाएगा। मैं आशा और अनुरोध करता हूँ कि प्रो० मधोक हिन्दी में अधिकाधिक ग्रन्थ रचें।

—डॉ० रामप्रसाद मिश्र

पृष्ठभूमि

१९५३ में कश्मीर को भारत के साथ मिलाने के पक्ष में जम्मू-कश्मीर प्रजा परिषद् द्वारा चलाए जाने वाले सत्याग्रह के समर्थन में भारतीय जनसंघ ने भी डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में आन्दोलन चलाया था। उसी सिलसिले में भारत सरकार ने मुझे नज़रबन्दी कानून के अन्तर्गत बन्दी बनाकर सेन्ट्रल जेल, अम्बाला में डाल दिया था। मेरे साथ विख्यात समाजसेवी, चिकित्सक, लेखक और उपन्यासकार वैद्य गुरुदत्त भी थे। उन्होंने अम्बाला जेल में अपना लेखन-कार्य जारी रखा। उन्हीं से प्रेरणा पाकर मैंने भी कश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण के दिनों (८ अक्टूबर, १९४७ से लेकर ७ नवम्बर, १९४७ तक) की अपनी डायरी को थोड़ी-सी कल्पना का पुट देकर सत्य पर आधारित एक उपन्यास के रूप में लिखने का प्रयास किया था। बाद में वह 'जीत या हार' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। गुरुजी के रूप में मैं स्वयं ही उसका प्रमुख पात्र हूँ। उसी के अन्तिम अध्याय के अन्तिम अनुच्छेद में मैंने ७ नवम्बर, १९४७ के बाद के घटनाचक्र को भी लिपिबद्ध करने की बात कही थी।

गत अनेक वर्षों में 'जीत या हार' के अनेक पाठक मुझसे पूछते रहे कि मैं वह वृत्त कब लिखूँगा। समयाभाव के कारण इच्छा होते हुए भी मैं उसे लिपिबद्ध न कर सका।

जून, १९७५ में आपात्काल की घोषणा के समय मैं दिल्ली में नहीं था। इसीलिए जून २५ की रात को मैं पकड़ा न जा सका। जुलाई मास में मुझे भीसा कानून के अन्तर्गत पकड़कर फिर अम्बाला जेल में नज़रबन्द कर दिया गया। उस बलात् लादे गए विश्रामकाल में मुझे पढ़ने-लिखने का पर्याप्त समय मिला।

इस प्रकार अम्बाला जेल में ही मुझे पाकिस्तान के जम्मू पर आक्रमण

की कहानी, उसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और प्रजा परिषद् की भूमिका और बाद के घटनाचक्र जिसने जम्मू-कश्मीर में भारत की सैनिक जीत को राजनैतिक हार में बदल दिया, का वृत्त लिखने का अवसर मिल गया।

मैं जम्मू में ८ नवम्बर, १९४७ से २९ जनवरी, १९४८ तक ही रह पाया। २९ जनवरी को मैं जम्मू-कश्मीर की वास्तविक स्थिति और शेख अब्दुल्ला की भारत-विरोधी नीतियों और गतिविधियों से सरदार पटेल और पं० नेहरू को अवगत कराने के उद्देश्य से जम्मू से निकला। ३० जनवरी को महात्मा गांधी की नई दिल्ली में हत्या कर दी गई। उस दुर्घटना का लाभ उठाकर जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और सरदार पटेल के विरुद्ध चलाए गए अभियान के कारण साम्यवादियों, सम्प्रदायवादियों और अन्य राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों को प्रोत्साहन मिला। शेख अब्दुल्ला ने उस स्थिति का लाभ उठाकर न केवल मुझे अपितु मेरे माता-पिता को भी जम्मू से निष्कासित कर दिया। इस प्रकार २९ जनवरी के बाद मैं जम्मू वापस न जा सका।

परन्तु जम्मू-कश्मीर के सम्बन्ध में सैनिक, राजनैतिक और कूटनीतिक स्तर पर नई दिल्ली, श्रीनगर, रावलपिंडी तथा राष्ट्रसंघ में चलने वाली गतिविधियों का मैं गहराई से अध्ययन करता रहा। १९४९ में 'कश्मीर डिवाइडेड'—खण्डित कश्मीर—पुस्तक लिखकर जम्मू-कश्मीर की वस्तु-स्थिति के सम्बन्ध में भारत और संसार की जनता के सामने कश्मीर समस्या का वस्तुपरक अध्ययन और हल भी प्रस्तुत किया। परन्तु सरदार पटेल की मृत्यु के बाद भारत सरकार ने कश्मीर के सम्बन्ध में जो नीति अपनाई वह न राष्ट्रहित के अनुरूप थी और न ही यथार्थवादी थी। फलस्वरूप भारतीय सेना के बलिदानों से प्राप्त १९४७, १९६५ और १९७१ के युद्ध में लगातार मिली सैनिक जीत हर बार राजनैतिक नेतृत्व की भूलों और अविवेक के कारण राजनैतिक और कूटनीतिक हार में बदलती गई। १९७१ के युद्ध के बाद भारत और पाकिस्तान के प्रधानमन्त्रियों द्वारा १९७२ में की गई शिमला-सन्धि तो जीत को हार में बदलने की भारतीय शासकों की दुनीति की पराकाष्ठा थी। उसके बाद के घटनाचक्र और १९८९ से कश्मीर घाटी को भारत से अलग करने के लिए पाकिस्तान के प्रच्छन्न युद्ध—

War by Proxy—ने स्थिति को और कठिन बना दिया है। इसी कारण मैंने इस पुस्तक का शीर्षक 'जीत में हार' रखा है।

'जीत में हार' केवल तीस दिनों की मेरी डायरी पर आधारित है, परन्तु इस पुस्तक में जम्मू के मेरे अपने अस्सी दिनों के अनुभव और प्रत्यक्ष जानकारी के अतिरिक्त गत चवालीस वर्षों के कश्मीर-सम्बन्धी घटनाचक्र का एक विहंगम चित्र भी प्रस्तुत किया गया है।

'जीत या हार' की तरह इसमें कल्पना का पुट नहीं है, इसलिए इसका रूप उपन्यास का न होकर राजनैतिक और ऐतिहासिक वृत्त का है। मैंने केवल तथ्यों को अपनी प्रतिक्रिया और टिप्पणी के साथ प्रस्तुत किया है। ये तथ्य बहुतेकों के लिए बिल्कुल नए होंगे परन्तु मैंने प्रयत्न किया है कि वे जैसे हैं वैसे ही पाठकों के सामने रखे जाएँ।

३१ दिसम्बर, १९७६ को मुझे अन्य मीसावन्दियों के साथ रिहा कर दिया गया। इसलिए जेल में लिखे भाग में १९४७ से १९७६ तक का ही वृत्त दिया जा सका। १९७७ के बाद घटनाचक्र और तेज़ी से चला। भारत की राजनीति में अनेक परिवर्तन आए और भारत सरकार की कश्मीर-नीति पर भी उनका प्रभाव पड़ा। १९७५ में शेख अब्दुल्ला को दुबारा कश्मीर की राजसत्ता सौंप दिये जाने के कारण कश्मीर की आन्तरिक स्थिति में भी भारत के हितों के प्रतिकूल बदल आने लगा।

१९८२ में शेख अब्दुल्ला के निधन और १९८४ में श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद रियासत के अन्दर और बाहर स्थिति और तेज़ी से बदलने लगी। सोवियत रूस के अफ़गानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप और इसकी अमरीका में प्रतिक्रिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़े इसके प्रभाव का असर कश्मीर पर भी पड़ा।

पाकिस्तान के सैनिक तानाशाह जनरल जिया-उल-हक द्वारा कश्मीर को हथियाने के लिए बनाई गई बेनामी युद्ध—War by Proxy—की योजना जिसे 'डोपाक' योजना का नाम दिया गया, का कार्यान्वयन कश्मीर में १९८८ में शुरू हुआ। कांग्रेस पार्टी और राजीव गांधी द्वारा पोषित और समर्थित कश्मीर का मुख्यमन्त्री फ़ारुक अब्दुल्ला इस योजना का एक मोहरा बन गया।

१९८९ में नई दिल्ली में सत्ता-परिवर्तन से कश्मीर की राजनीति में भी एक बड़ा बदलाव आया। मुफ्ती मोहम्मद सईद के केन्द्र में गृहमन्त्री बन जाने और जगमोहन के कश्मीर का राज्यपाल नियुक्त होने तथा फ़ारुक अब्दुल्ला के त्यागपत्र के बाद कश्मीर का शासन केन्द्र के हाथ में आ जाने से नई दिल्ली और श्रीनगर में एक-दूसरे के विपरीत और प्रतिकूल नीतियाँ चलने लगीं। इस अन्तर्द्वन्द्व का अन्त १९९० के मध्य में जगमोहन को राज्यपाल पद से हटाने और दिल्ली लौट आने से हुआ।

अक्टूबर, १९९० में नई दिल्ली में फिर सत्ता-परिवर्तन हुआ। कांग्रेस की सहायता से चन्द्रशेखर प्रधानमन्त्री बना। राजीव गांधी-फ़ारुक अब्दुल्ला फिर कश्मीर-सम्बन्धी नीति और कश्मीर-प्रशासन की गतिविधियों को प्रभावित करने लगे। पाकिस्तान और उसके एजेंटों को इसका लाभ मिलने लगा।

मार्च, १९९१ में दिल्ली में फिर सत्ता-परिवर्तन हुआ। लोकसभा भंग कर दी गई और मई मास में नए चुनाव हुए। इसी बीच २१ नई को राजीव गांधी की हत्या हो गई और दिल्ली के सिंहासन पर नेहरू राजवंश के आधिपत्य का अन्त हो गया। इस बीच अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में भी महत्वपूर्ण बदल आया। सोवियत रूस ने साम्यवाद का परित्याग करके नई दिशा अपनाई और शीतयुद्ध का अन्त हो गया। इस बीच पाकिस्तान में भी राजनैतिक बदलाव आया। इन सबका प्रभाव जम्मू-कश्मीर की स्थिति पर भी पड़ा।

मैंने इस सारे घटनाचक्र के परिप्रेक्ष्य में जम्मू-कश्मीर की स्थिति और कश्मीर समस्या का तथ्यात्मक विवेचन और मूल्यांकन इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है।

मैंने प्रयत्न किया है कि जम्मू-कश्मीर राज्य से सम्बन्धित घटनाचक्र और कश्मीर समस्या के बदलते रूप पर अद्यतन सामग्री का अध्ययन करके उसे सार रूप में हिन्दी के पाठकों के सामने पेश करूँ। कश्मीर पर पिछले दिनों अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें छपी हैं। उनमें से अधिकांश घटनाचक्र का संकलन मात्र हैं। हिन्दी में इस विषय पर प्रत्यक्ष अनुभव और अद्यतन उपलब्ध स्रोतों के आधार पर लिखी गई सम्भवतः यह प्रथम पुस्तक है।

मैंने शेख अब्दुल्ला की उर्दू में लिखी आत्मकथा 'आतशे चिनार' में दी गई सामग्री का भी शेख अब्दुल्ला का दृष्टिकोण पेश करने के लिए उपयोग किया है। मुझे आशा है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के पाठकों को इससे न केवल कश्मीर समस्या को समझने में सहायता मिलेगी अपितु वे इसके यथार्थवादी और राष्ट्रवादी हल की दिशा में भी सोच सकेंगे। नीति-निर्धारकों को भी इस पुस्तक से कश्मीर-नीति पर पुनर्विचार करने के लिए सामग्री भी मिलेगी और दिशा भी।

इस पुस्तक के रचने में मुझे मेरी पत्नी कमला से बहुमूल्य सहयोग मिला है। हिन्दी और इतिहास के प्रख्यात लेखक और आलोचक डॉ० रामप्रसाद मिश्र ने पाण्डुलिपि को पढ़कर कुछ बहुमूल्य सुझाव दिये और पुस्तक का समालोचनात्मक 'प्रवेश' लिखा। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

१९४७ के पाकिस्तानी आक्रमण के समय डोगरा सेना, संघ के स्वयं-सेवकों और भारतीय सेना द्वारा सफल प्रतिरोध और जम्मू-कश्मीर के भारत में विलय के बाद शेख अब्दुल्ला और पं० नेहरू की गलत नीतियों के कारण कश्मीर में सेना द्वारा प्राप्त विजय पर प्रश्नचिह्न लग गया था। इसलिए मैंने इस घटनाचक्र की सत्यकथा पर आधारित उपन्यास का नाम 'जीत या हार' रखा था। यह पुस्तक १९४७ से १९६१ के इस घटनाचक्र और नीतियों का वृत्त है जिनके कारण भारतीय सेना की १९४७, १९६५ और १९७१ की महान् विजय को राजनैतिक और कूटनीतिक पराजय में बदल दिया गया। कश्मीरी हिन्दुओं को कश्मीर से निकालने और खत्म करने का जो काम विदेशी औरंगजेब नहीं कर सका था, वह स्वतन्त्र भारत के स्वदेशी शासनकाल में सम्पन्न हुआ। इसलिए मैंने इस पुस्तक का शीर्षक 'जीत में हार' रखा है। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद इस नाम की सार्थकता स्वयं सिद्ध हो जाएगी।

बाइस राज पहाड़ दे विच जम्मू सरदार जम्मू-कश्मीर राज्य के निर्माण में जम्मू की भूमिका

तवी नदी के तट पर बसा हुआ जम्मू नगर जम्मू-कश्मीर राज्य का मूल स्थान है। यह एक प्राचीन नगर है। स्थानीय परम्परा के अनुसार इस नगर का निर्माण हजारों वर्ष पूर्व राजा जम्बूलोचन ने किया था। उसी के नाम पर इसका नाम जम्बू या जम्मू रखा गया।

कालान्तर में यह हिमालय की तलहटी के पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र, जिसे डूंगर क्षेत्र भी कहा जाता है, का प्रमुख नगर और उसी नाम के राज्य की राजधानी बन गया। 'बाइस राज पहाड़ दे विच जम्मू सरदार' की डोगरी लोकोक्ति इस नगर के उस क्षेत्र में प्रमुख स्थान की ओर इंगित करती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में इस पर जमवाल राजपूत राजा राज्य करते थे। उसी राजवंश का एक वंशज राजा किशनसिंह था। उसके तीन बेटे थे— गुलाबसिंह, ध्यानसिंह और सुचेतसिंह।

गुलाबसिंह किशोरावस्था में पहुँचने पर लाहौर के महाराज रणजीतसिंह की सेना में भरती हो गया और अपने शौर्य और कर्तव्यनिष्ठा से शीघ्र ही रणजीतसिंह का एक विश्वस्त सेनापति बन गया। उसने अपने भाइयों का भी रणजीतसिंह के दरबार में कार्य दिलवा दिया।

कुछ समय पश्चात् रणजीतसिंह ने जम्मू राज्य को विजय करके अपने बढ़ते हुए साम्राज्य में मिला लिया। बाद में उसने गुलाबसिंह को वह इलाका जागीर में देकर १८२२ में उसका राजतिलक अपने हाथों से कर दिया। तब से गुलाबसिंह लाहौर दरबार की सेवा करता हुआ अपना अधिक समय जम्मू में बिताने लगा और जम्मू राज्य का विस्तार करने लगा।

गुलाबसिंह ने थोड़े ही वर्षों में पश्चिम में रावलपिंडी तक का क्षेत्र, जिसमें भिम्बर, मीरपुर, कोटली, राजौरी, पंछ इत्यादि राज्य शामिल थे, विजय करके अपने राज्य में शामिल कर लिया। उत्तर में वह भद्रवाह और किश्तवाड़ को अपने राज्य में मिलाकर अपने राज्य की सीमाएँ कश्मीर की घाटी और लद्दाख तक ले गया। १८३४ में उसके विख्यात सेनापति वज़ीर जोरावरसिंह ने किश्तवाड़ के रास्ते लद्दाख में दाखिल होकर लद्दाख, वल्लिस्तान और पश्चिमी तिब्बत की विजय करने का काम शुरू किया। वह बार-बार इस क्षेत्र में अपनी सेनाएँ लेकर गया और अन्त में १६ दिसम्बर, १८४१ को तिब्बत में मानसरोवर झील के तट पर तिब्बतियों से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके बाद गुलाबसिंह ने एक और सेना लद्दाख भेजी जिसने दीवान मोतीराम के नेतृत्व में तिब्बती सेना को पराजित करके उनके साथ सितम्बर, १८४२ में लेह के स्थान पर एक सन्धि की जिसके अनुसार सारा लद्दाख और मानसरोवर झील के तट पर स्थित 'मिन्सर' नामक गाँव गुलाबसिंह के जम्मू राज्य में शामिल कर लिया गया।

बाद में पंजाब और ब्रिटिश शासकों के बीच पहले युद्ध के बाद १८४६ में अमृतसर सन्धि के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने कश्मीर की घाटी समेत रावी नदी और सिन्धु नदी के बीच के सारे पहाड़ी क्षेत्र गुलाबसिंह को सौंप दिए। इस प्रकार रावलपिंडी और एबटाबाद का क्षेत्र भी जम्मू राज्य का अंग बना। परन्तु बाद में गुलाबसिंह ने जेहलम नदी और सिन्धु नदी के बीच का क्षेत्र छोड़कर उसके बदले जम्मू के दक्षिण का कुछ मैदानी क्षेत्र प्राप्त कर लिया।

कश्मीर घाटी पर अधिकार जमाने के बाद डोगरा सेनाओं ने गिलगित और मुज़फ़्फराबाद का क्षेत्र भी अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार जम्मू का राज्य फैलकर उत्तर में सिकियांग, पूर्व में तिब्बत और उत्तर पश्चिम में अफगानिस्तान और पख्तूनिस्तान तक फैल गया। कश्मीर की घाटी पर अधिकार हो जाने के उपरान्त महाराजा गुलाबसिंह ने श्रीनगर को अपने विस्तृत राज्य की ग्रीष्मकालीन राजधानी बनाया।

इस प्रकार १८४६ में जम्मू-कश्मीर का एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में उदय हुआ। भारत की ब्रिटिश सरकार के साथ इसके सम्बन्ध १८४६ की

अमृतसर सन्धि के आधार पर तय हुए। इसके बाद लगभग सौ वर्षों तक इस पर महाराजा गुलाबसिंह और उसके वंशजों का राज्य रहा। इस प्रकार जम्मू नगर एक विशाल राज्य की राजधानी बन गया और श्रीनगर को इसकी ग्रीष्मकालीन राजधानी का दर्जा दिया गया।

१९४६ के शीतकाल में यह स्पष्ट होने लगा था कि कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति और अंग्रेज शासकों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति के कारण भारत का मजहब के आधार पर विभाजन होकर रहेगा। मुस्लिम-बहुल होने के कारण सारे जम्मू-कश्मीर राज्य की पाकिस्तान में शामिल होने की माँग उठने लगी। जम्मू-कश्मीर मुस्लिम कॉन्फ्रेंस खुल्लम-खुल्ला मुस्लिम लीग के समर्थन में जम्मू-कश्मीर राज्य को भावी पाकिस्तान का अंग बनाने के लिए प्रचार कर रही थी। शेख अब्दुल्ला और उसकी नेशनल कॉन्फ्रेंस का रवैया दोगला था। वह खुलकर पाकिस्तान का समर्थन तो नहीं कर रहा था परन्तु 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन चलाकर उसने यह सिद्ध कर दिया कि वह कश्मीर को भारत से अलग करना चाहते हैं। उसका इरादा कश्मीर में अपनी सल्तनत कायम करने का था।

जम्मू का क्षेत्र हिन्दू-बहुल था और लद्दाख का बौद्ध-बहुल। इन क्षेत्रों के लोग पाकिस्तान बनने के विरुद्ध थे और अपने क्षेत्र को किसी हालत में भी पाकिस्तान में नहीं जाने देना चाहते थे परन्तु उनका अपना कोई राज-नैतिक संगठन नहीं था। इसलिए उनकी आकांक्षाओं और विचारों की अभिव्यक्ति नहीं हो रही थी। इस स्थिति को भाँपकर मैंने मार्च, १९४७ में जम्मू में एक ऐसी राजनैतिक पार्टी बनाने का सुझाव रखा जो खुलकर जम्मू-कश्मीर राज्य को भारत में विलय करने की आवाज़ उठाए। परन्तु क्योंकि मुझे कुछ देर के बाद श्रीनगर वापस जाना पड़ा, इस कारण वह सुझाव कार्यरूप न ले सका।

उसके बाद घटनाचक्र इतनी तेज़ी से चला कि मैं पूर्ण रूप से कश्मीर घाटी में व्यस्त हो गया। महाराजा हरिसिंह भी उस समय श्रीनगर में ही थे। मेरा प्रयत्न था कि वे अपनी रियासत का विलय भारत में करें और पाकिस्तान के दबाव में न आएँ।

मैं 'जीत या हार' में बता चुका हूँ कि ८ अक्टूबर, १९४७ को कश्मीर

पर पाकिस्तानी आक्रमण की योजना की भनक पहले-पहल मेरे कान में पड़ी। तब से २७ अक्तूबर तक भारतीय सेना के श्रीनगर पहुँचने तक मैं और मेरे साथी पाकिस्तानी आक्रमण का मुकाबला करने में लगे रहे।

जम्मू-कश्मीर के भारत में विलय के फलस्वरूप भारत की सेना २७ अक्तूबर, १९४७ को प्रातः विमानों द्वारा श्रीनगर पहुँचने लगी और श्रीनगर वच गया। उसी दिन सायंकाल शेख अब्दुल्ला श्रीनगर पहुँचा। भारत सरकार के दबाव के कारण महाराज हरिसिंह ने उसे अपने राज्य के प्रशासन की जिम्मेदारी सौंप दी। श्रीनगर पहुँचने के तुरन्त बाद उसने प्रताप चौक में एक बड़ी जनसभा को सम्बोधित किया। मैं भी उस सभा में उपस्थित था। अपने एक घण्टे के भाषण में उसने न केवल कश्मीर के भारत में विलय और भारतीय सेना के विषय में एक शब्द तक नहीं कहा अपितु यह कहकर कि “हमने कश्मीर का ताज खाक में से उठाया है। हम हिन्दुस्तान में शामिल हों या पाकिस्तान में यह बाद का सवाल है। पहले हमें अपनी आज़ादी मुकम्मल करनी है”, अपने असली इरादे को भी साफ़ कर दिया। उसके इस कथन से मेरा माथा ठनका। मैंने उसके तुरन्त बाद जम्मू के संघचालक और लोकप्रिय हिन्दू नेता पं० प्रेमनाथ डोगरा को दूरभाष पर अब्दुल्ला के भाषण का सारांश बताया और उन्हें तुरन्त जम्मू में राजनैतिक संगठन बनाकर रियासत के भारत में पूर्ण विलय और जम्मू के हितों की रक्षा करने हेतु जम्मू का प्रशासन जम्मू के लोगों के प्रतिनिधियों को सौंपने की माँग उठाने को कहा।

सत्ता सँभालने के बाद शेख अब्दुल्ला ने अपना पहला निशाना राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को और मुझे बनाया। वह जानता था कि उसके इरादों में हम लोग प्रभावी व पर्याप्त बाधा पैदा कर सकते हैं। मेरे कुछ साथियों को उसके मुझे खत्म करने की योजना का पता लग गया और उन्होंने मेरे कश्मीर घाटी से निकलने की व्यवस्था कर दी। फलस्वरूप मैं ७ नवम्बर को सकुशल जम्मू पहुँच गया।

जम्मू में उस समय शान्ति थी। इस ‘मन्दिरों वाले शहर’ के मन्दिरों के गगनचुम्बी कलशों का साया पहले की तरह इस पर कायम था, परन्तु भौगोलिक और राजनैतिक दृष्टि से उसकी स्थिति कश्मीर घाटी से कहीं

अधिक खतरनाक थी।

जम्मू नगर पाकिस्तान की सीमा के निकट स्थित है। स्यालकोट छावनी इसकी सीमावर्ती चौकी सुचेतगढ़, जो जम्मू से १७ मील दूर है, से केवल ४ मील पर स्थित है। इसलिए पाकिस्तान के लिए जम्मू पर सैनिक दबाव डालना अधिक आसान था।

सुचेतगढ़ से पठानकोट तक जम्मू राज्य की दक्षिणी सीमा मैदानी क्षेत्र में से गुजरती है। पहाड़ी क्षेत्र और इस सीमा के बीच का क्षेत्र जम्मू राज्य का सबसे उपजाऊ और घनी आबादी वाला क्षेत्र है। इसमें सीमा के साथ-साथ अरनिया, अला, बारवाह, बिशनाह, बीरपुर, साम्बा, हीरानगर और कठुआ आदि अनेक बड़े-छोटे गाँव और कस्बे हैं। सीमा के उस पार स्यालकोट, जफरवाल, पसरूर आदि नगर और कस्बे हैं।

सुचेतगढ़ के पश्चिम में जम्मू राज्य की सीमा चिनाब नदी को पार करके पश्चिमी पंजाब के गुजरात और जेहलम जिलों के साथ लगती है। जेहलम नगर के पास से बहने वाली जेहलम नदी जेहलम नगर से लेकर श्रीनगर-रावलपिंडी सड़क पर स्थित कोहाला तक जम्मू-कश्मीर राज्य की पश्चिमी सीमा बनाती है। अपने उद्गम से कोहाला तक यह नदी रियासत के कश्मीर घाटी और मुज़फ़्फराबाद क्षेत्र में बहती है। जोड़ियाँ, छम्ब, भिम्बर, देवा, बटाला, अलीबेग, मीरपुर और पुँछ इस सीमा पर जम्मू राज्य के प्रमुख गाँव तथा नगर हैं।

इस सारे क्षेत्र को पंजाब से जोड़ने वाली एक ही पक्की सड़क और एक ही रेलवे लाइन थी। यह जम्मू को सियालकोट से मिलाती थी। इसे पाकिस्तान ने १५ अगस्त के बाद बन्द कर दिया था। भिम्बर नगर, जो सीमा से केवल चार मील पर था, कच्ची सड़क से गुजरात नगर से जुड़ा हुआ था। गुजरात नगर चिनाब नदी पर बसा हुआ है। मीरपुर, जो इसी नाम के ज़िले का केन्द्रस्थान था, पक्की सड़क से जेहलम नगर के साथ जुड़ा हुआ था परन्तु जेहलम नदी पर पुल न होने के कारण यात्रियों को नावों से वह नदी पार करनी पड़ती थी।

मीरपुर और जम्मू के बीच अनेक छोटी-छोटी नदियाँ पड़ती हैं, जिन पर उस समय पुल नहीं थे। इसलिए मीरपुर, कोटली और पुँछ से जम्मू

आने के लिए लोग जेहलम के रास्ते पहले स्यालकोट आते थे और फिर वहाँ से जम्मू पहुँचते थे ।

१५ अगस्त, १९४७ से कई महीने पहले मार्च, १९४७ में ही रावलपिंडी क्षेत्र में सुयोजित ढंग से हिन्दुओं को मारना-काटना, उनके घरों को जलाना और हिन्दू स्त्रियों को भगाना शुरू हो गया था । रावलपिंडी और जेहलम ज़िलों के अनेक गाँवों में भयानक अत्याचार हुए थे और हजारों हिन्दुओं को मौत के घाट उतार दिया गया था । हिन्दू स्त्रियों ने बड़ी संख्या में ज़हर खाकर या कुओं में छलाँगें लगाकर आत्मउत्सर्ग करके अपने सतीत्व और धर्म की रक्षा की थी । उसी समय से उस क्षेत्र के हिन्दू जम्मू राज्य के निकटवर्ती गाँवों और नगरों में शरण लेने के लिए आने शुरू हो गए थे ।

भारत-विभाजन की घोषणा के पहले ही पश्चिमी पंजाब के शेष भाग में भी मार-काट शुरू हो गई थी इसलिए जम्मू राज्य के निकटवर्ती ज़िलों के हिन्दू भारी संख्या में जम्मू राज्य में दाखिल होने लगे । कुछ रियासत में टिक गए और कुछ काफ़िले बना-बनाकर रियासत के अन्दर से पठानकोट होकर पूर्वी पंजाब की ओर बढ़ने लगे ।

इस स्थिति में संघ जैसे हिन्दू संगठनों के सामने पहला काम इन शरणार्थियों के लिए रहने और खाने का प्रबन्ध करना, बिछुड़े हुए परिवारों को आपस में मिलाने में सहायक होना और जम्मू से पठानकोट तक रास्ते में शरणार्थियों की देखभाल करना था । यह बहुत बड़ा काम था । इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि रियासत में से होकर लगभग दस लाख शरणार्थी पूर्वी पंजाब गए और लगभग चार लाख शरणार्थी अस्थायी रूप में जम्मू और इसके आसपास के नगरों और गाँवों में टिक गए ।

अक्टूबर, १९४७ तक पाकिस्तान में पड़ने वाले स्यालकोट, गुजरात आदि ज़िलों से लगभग सभी हिन्दू खदेड़ दिये गए या मार दिये गए और उनकी धन-सम्पत्ति पर पाकिस्तानियों ने कब्ज़ा कर लिया । उसके बाद पाकिस्तान के शासकों ने जम्मू क्षेत्र को भी पाकिस्तान में शामिल करने के लिए षड्यन्त्र शुरू कर दिए । बड़ी मात्रा में अस्त्र-शस्त्र भी जम्मू क्षेत्र के मुसलमानों के पास भेजे जाने लगे ।

ज्यों ही पाकिस्तान ने २१ अक्टूबर को एबटाबाद के रास्ते कश्मीर घाटी पर आक्रमण शुरू किया, पाकिस्तान से सशस्त्र टोलियाँ जम्मू के सीमावर्ती गाँवों में भी घुसपैठ करने लगीं और वहाँ से हिन्दुओं को खदेड़ने लगीं। इससे जम्मू क्षेत्र के स्थानीय लोगों के साथ-साथ यहाँ शरण लेने के लिए आए हुए हिन्दू शरणार्थियों का जीवन एक बार फिर खतरे में पड़ गया इसलिए उन्होंने प्रत्याक्रमण की नीति अपनाई और कुछ दिनों में इस क्षेत्र के अधिकतर मुसलमान पाकिस्तान चले गए।

इस सामयिक कार्यवाही से जम्मू नगर और इसके साथ लगा हुआ हिन्दू-बहुल क्षेत्र बच गया। उसके बाद पाकिस्तान ने जम्मू के पश्चिम में मुस्लिम-बहुल पंजाबी भाषा-भाषी क्षेत्र पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इस क्षेत्र में भिम्बर, राजौरी, कोटली, मीरपुर, पुछ इत्यादि नगर थे। इनमें बड़ी संख्या में हिन्दू रहते थे। उनमें से कुछ लोग खेती करते थे परन्तु अधिकांश छोटा-मोटा व्यापार-धन्धा करते थे।

पुँछ नगर पुँछ नाम की जागीर की राजधानी था। पुँछ नदी के तट के निकट पहाड़ की तलहटी पर बसा यह नगर रावलपिंडी से लगभग ४० मील पर स्थित है।

पाकिस्तानियों का दबाव बढ़ने पर इर्द-गिर्द के गाँवों के हिन्दू भी इस नगर में इकट्ठे हो गए। पाकिस्तान से आए बहुत-से हिन्दू शरणार्थी भी इस नगर में आ चुके थे। रियासत की सेना की टुकड़ियाँ इन नगरों में स्थित थीं, परन्तु उनकी संख्या पर्याप्त नहीं थी।

जम्मू के सीमावर्ती गाँवों में भी पाकिस्तान का दबाव कायम था और उनके बहुत-से लोग सुरक्षा की तलाश में गाँव छोड़कर जम्मू में आने लगे थे।

शेख अब्दुल्ला के सत्ता में आ जाने के बाद जम्मू की स्थिति और बिगड़ने की सम्भावना पैदा हो चुकी थी। अब्दुल्ला का डोगरा-विरोधी रुख सर्वविदित था। वह जम्मू से पाकिस्तान-समर्थक मुसलमानों के खदेड़े जाने से खिन्न था। इसलिए उसके मन में जम्मू के हिन्दुओं के लिए न कोई सहानुभूति थी और न उसे पाकिस्तानी दबाव से बचाने में कोई रुचि थी। फलस्वरूप जम्मू की स्थिति चक्की के दो पाटों के बीच फँसे दानों जैसी बन गई।

जम्मू प्रजा परिषद् का निर्माण

१९४७ में सारे जम्मू क्षेत्र में सबसे सुदृढ़ संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का था परन्तु यह राजनैतिक संगठन नहीं था। इसकी पहली शाखा मैंने जम्मू नगर में १९४० में शुरू की थी। मैं उस समय लाहौर में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहा था और गमियों के अवकाश में अपने माता-पिता के पास जम्मू आया हुआ था। मेरे लाहौर लौट जाने के बाद स्यालकोट से आए एक युवक कार्यकर्ता, जगदीश अब्नोल, ने जम्मू में संघ का कार्य जारी रखा और दो वर्षों में इसका संगठन जम्मू के बाहर भी फैल गया। जगदीश अब्नोल की सबसे बड़ी उपलब्धि पं० प्रेमनाथ डोगरा को जम्मू का संघचालक बनने के लिए राजी करना था।

पं० प्रेमनाथ डोगरा अवकाशप्राप्त सरकारी अधिकारी थे। वे १९३०-३१ में जब शेख अब्दुल्ला ने कश्मीर प्रान्त में मुस्लिम कॉन्फ्रेंस का निर्माण किया और साम्प्रदायिकता का विष धोलना शुरू किया, मुजफ्फराबाद ज़िला के डिप्टी कमिश्नर थे, इसलिए वे शेख अब्दुल्ला, उसके साथियों और उसके इरादों से भली-भाँति परिचित थे।

१९४२ में एम० ए० की परीक्षा पास करने के बाद पहले मैंने सेना में कमीशन लेने का फैसला किया और मेरा चयन भी हो गया। बाद में मैंने सेना के बजाय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वारा देश-सेवा करने का फैसला किया। संघ के अधिकारियों ने मुझे जम्मू-कश्मीर राज्य में संघ का प्रमुख संगठक बनाकर जम्मू जाने का आदेश दिया। इस प्रकार दो वर्ष बाद मैं फिर जम्मू आ गया और पूरा समय संघ-कार्य में लगाने लगा। दो वर्ष में सारे जम्मू प्रान्त में संघ की शाखाओं का जाल फैलाने के बाद मैं श्रीनगर गया और कश्मीर घाटी में भी संघ-कार्य का प्रसार किया। वहाँ मैंने जीविका

के लिए स्थानीय डी० ए० वी० कॉलेज में इतिहास के प्राध्यापक का काम भी शुरू किया। इससे मुझे कश्मीरी नवयुवकों को संघ में लाने में बड़ी सहायता मिली। १९४७ तक श्रीनगर और कश्मीर घाटी के अन्य नगरों में भी संघ एक शक्तिशाली संगठन बन चुका था। इसी कारण १९४७ में पाकिस्तान के आक्रमण के समय कश्मीर की सुरक्षा के लिए मैं और मेरे नवयुवक साथी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके।

शेख अब्दुल्ला के शिकंजे से बचकर ७ नवम्बर, १९४७ को सकुशल जम्मू पहुँचने के बाद मैंने सबसे पहले पं० प्रेमनाथ डोगरा और संघ के प्रमुख कार्यकर्ताओं से जम्मू की स्थिति पर विचार-विनिमय किया और राजनैतिक संगठन बनाने के अपने सुझाव को कार्यरूप देने के सम्बन्ध में पूछा। पं० प्रेमनाथ डोगरा ने बताया कि राजनैतिक दल बनाने की दिशा में कुछ प्रगति नहीं हुई। इसके उन्होंने दो मुख्य कारण बताए। एक शेख अब्दुल्ला के हाथ में सत्ता सौंपे जाने के आधार की ठीक-ठीक जानकारी का अभाव। बहुत-से लोगों की धारणा थी कि क्योंकि उसे जम्मू-कश्मीर की सत्ता केन्द्र सरकार ने सौंपी है इसलिए उसका विरोध करना केन्द्र सरकार का विरोध माना जाएगा और यह बात जम्मू वालों के हित में नहीं होगी क्योंकि अब जम्मू भी हर दृष्टि से केन्द्र पर निर्भर है। दूसरा कारण वहाँ के संघ के साथियों का यह मत था कि राजनैतिक दल बनाना और उसमें शक्ति लगाना ऐसा कार्य है जिसके लिए सरसंघचालक श्री गुरुजी की पूर्व अनुमति लेना आवश्यक है। आज के हालात में उनसे सम्पर्क करना कठिन है। इसके अतिरिक्त एक और कारण भी है और वह यह कि इस समय पंजाब के लाखों शरणार्थी जम्मू क्षेत्र में आए हुए हैं। जम्मू, कठुआ और सांबा नगरों में स्यालकोट, गुजरांवाला और लाहौर क्षेत्र के शरणार्थियों के अतिरिक्त गुजरात, जेहलम और रावलपिंडी जिलों के हज़ारों शरणार्थी भिम्बर, मीरपुर, पुंछ, कोटली और राजौरी में भी आए हुए हैं। मीरपुर ज़िले के मुस्लिम-बहुल क्षेत्र के गाँवों के हिन्दू भी, जिनमें काफी केशधारी भी हैं, इन नगरों में आ चुके हैं। इन शरणार्थियों की सहायता करना और उनकी रक्षा का प्रबन्ध करना इतना बड़ा काम है कि संघ के कार्यकर्ताओं के लिए राजनैतिक पार्टी बनाना या किसी और काम की ओर ध्यान देना कठिन होगा।

इस पर मैंने उन्हें राजनैतिक बदल की पृष्ठभूमि बताई और कहा कि जम्मू की स्थिति कुछ भी हो, रियासत के बदलते हुए राजनैतिक चित्र और नए शासकों के दृष्टिकोण और इरादों को समझे बिना और राजनैतिक चालों का राजनैतिक उत्तर दिये बिना शरणार्थियों की सहायता और सुरक्षा के लिए भी बहुत कुछ नहीं किया जा सकेगा। भारतीय सेना ने कश्मीर की घाटी से पाकिस्तानी आक्रान्ताओं को खदेड़ दिया है। सारी घाटी पर अब भारतीय सेना और शेख अब्दुल्ला की सरकार का पूरा नियन्त्रण हो चुका है इसलिए अब शेख अब्दुल्ला शीघ्र ही जम्मू आएगा और यहाँ भी अपने पाँव जमाना चाहेगा।

शेख अब्दुल्ला जम्मू में क्या करना चाहेगा इसके लिए उसके राजनैतिक मानस को ठीक प्रकार समझ लेना चाहिए। वह इस्लामिया कॉलेज, लाहौर और अलीगढ़ विश्वविद्यालय की उपज है। उसका राजनैतिक चिन्तन इन संस्थाओं में व्याप्त वातावरण से प्रभावित और प्रेरित है। उसकी राजनैतिक पृष्ठभूमि मुस्लिम कॉन्फ्रेंस की राजनीति से जुड़ी हुई है। वह ही उसका निर्माता था। १९३९ में मुस्लिम कॉन्फ्रेंस को नेशनल कॉन्फ्रेंस में बदलने के बाद भी उसके दृष्टिकोण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। कश्मीर घाटी में ९५% मुसलमान हैं इसलिए शेख अब्दुल्ला अपनी रणनीति इस आधार पर बनाता आया है कि राजसत्ता जब और जैसे भी डोगरा राजा के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में आएगी तो कश्मीर में मुसलमानों के हाथ में ही आएगी। उसकी दृष्टि शुरू से ही कश्मीर घाटी तक ही सीमित रही है। इसीलिए उसने १९४६ में 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन चलाया था। यह आन्दोलन ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध नहीं था, यह डोगरा महाराजा और गैर-कश्मीरियों के विरुद्ध था। इससे स्पष्ट है कि वह कश्मीर के अतिरिक्त रियासत के अन्य भागों की राज्यसत्ता प्राप्त करने का इच्छुक नहीं था।

जहाँ तक भारत और पाकिस्तान का सम्बन्ध है, उसका भी पहला चयन पाकिस्तान था। यह उसके द्वारा श्री सादिक के नेतृत्व में ५ अक्टूबर, १९४७ को लाहौर में श्री जिन्ना के पास अपना शिष्टमण्डल भेजने से स्पष्ट हो गया था। वह कश्मीर को पाकिस्तान में शामिल करने के पक्ष में था।

परन्तु वह चाहता था कि जिन्ना उसकी इस शर्त को मान लेते कि पाकिस्तान में शामिल होने के बाद कश्मीर की राजसत्ता उसके हाथ में दे दी जाएगी। परन्तु जिन्ना ने उसे यह आश्वासन देने से इन्कार कर दिया क्योंकि उसे इस बात का विश्वास था कि पके हुए सेब की तरह कश्मीर उसकी गोद में गिरने वाला है। जब शेख अब्दुल्ला पाकिस्तान से निराश हो गया और उसने देखा कि कश्मीर पर पाकिस्तान का अधिकार होने जा रहा है तब उसने कश्मीर को भारत में विलय करने के लिए महाराजा द्वारा स्वीकृत विलय-पत्र को भारत सरकार द्वारा स्वीकार करने का समर्थन किया। विलय के मामले में उसका कोई दखल भी नहीं था।

उस विलय-पत्र के कारण जम्मू-कश्मीर राज्य संवैधानिक और कानूनी दृष्टि से भारत का अंग बन चुका है। उस विलय को भारतीय सेना ने अपना खून देकर और पाकिस्तानी आक्रान्ताओं को खदेड़कर सार्थक बनाया है।

यदि जम्मू में अलग और प्रभावी राजनैतिक दल होता तो सम्भवतः जम्मू में सत्ता उस दल के हाथ में दी जाती और शेख अब्दुल्ला को केवल कश्मीर घाटी की सत्ता ही सौंपी जाती परन्तु क्योंकि जम्मू में कोई प्रभावी राजनैतिक दल और नेतृत्व नहीं था इसलिए शेख अब्दुल्ला को जम्मू का शासक भी बना दिया गया। स्वाभाविक रूप में वह जम्मू में उन चन्द लोगों को आगे लाएगा जो कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव में होने के कारण उसके समर्थक हैं। स्पष्ट है कि वे लोग जम्मू के राष्ट्रवादी तत्त्वों को, जो रियासत का भारत के साथ पूर्ण विलय चाहते हैं, अपना शत्रु मानेंगे और उन्हें हर प्रकार से दबाना चाहेंगे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से सम्बन्धित और प्रभावित कार्यकर्ता और लोग उनके पहले शिकार बनेंगे। इसलिए मेरा अनुरोध है कि आप लोग परिस्थिति की गम्भीरता को समझें और राजनैतिक दृष्टि से जम्मू क्षेत्र में विद्यमान रिक्तता को शेख अब्दुल्ला और उसकी नेशनल कॉन्फ्रेंस पार्टी द्वारा जम्मू में अपने पाँव जमाने से पहले भरने का प्रयत्न करें। इसका मतलब यह नहीं कि शरणाथियों की सहायता और रक्षा के दूसरे कामों की उपेक्षा की जाए। वह काम और राजनैतिक दल का निर्माण और प्रसार साथ-साथ चल सकते हैं। मैंने उन्हें यह भी समझाने का प्रयत्न किया कि नागपुर में बैठे बन्धुओं को जम्मू-कश्मीर की स्थिति की

गम्भीरता का ज्ञान नहीं होगा। इसलिए यह अपेक्षा करना कि वे इस मामले में तत्काल सार्थक मार्गदर्शन कर सकेंगे, उनसे भी अन्याय करना होगा। साथ ही इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि स्यालकोट वाला गाड़ी का रास्ता बन्द हो चुका है। पठानकोट जाने के लिए रावी नदी पार करनी पड़ेगी जिस पर कोई पुल नहीं और पंजाब में मार-काट चल रही है इसलिए पूरा प्रयत्न करने पर भी किसी उत्तरदायी बन्धु को नागपुर जाने और आने में एक महीने से भी अधिक समय लग जाएगा। तब तक यहाँ की स्थिति अपने हाथ से निकल सकती है। इसलिए हमें नागपुर से आदेश की प्रतीक्षा और अपेक्षा किये बिना अपनी पहल से राजनैतिक दल के निर्माण की दिशा में पग उठाने में देर नहीं करनी चाहिए।

परन्तु कुछ साथियों को यह तर्क प्रभावित नहीं कर सके। इसलिए मैंने उनके साथ माथापच्ची को पानी में लट्ठ मारने की तरह निरर्थक समझकर अपनी ज़िम्मेदारी पर राजनैतिक दल बनाने का निश्चय प्रकट किया। इसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। पं० प्रेमनाथ डोगरा ने मेरा उत्साह बढ़ाते हुए कहा, “आप काम शुरू तो करो, आगे देखा जाएगा।”

इसके बाद मैंने संघ के प्रमुख साथियों को नैतिक सहयोग के साथ संघ के बाहर के लोगों को जम्मू में क्षेत्रीय राजनैतिक दल बनाने के लिए टोहना शुरू किया।

राजनैतिक दृष्टि से जम्मू क्षेत्र बहुत पिछड़ा हुआ था। इसका मुख्य कारण यह था कि वहाँ की बहुसंख्यक हिन्दू जनता समझती थी कि रियासत का हिन्दू डोगरा राजवंश उनका अपना राजवंश है और उसको हर प्रकार का राजनैतिक समर्थन देना उसका कर्तव्य है। यह काम मुख्य रूप में दो संस्थाओं द्वारा होता था, एक थी डोगरा सदर सभा और दूसरी जम्मू हिन्दू सभा।

डोगरा सदर सभा सक्रिय राजनीति से अपने को अलग रखती थी। हिन्दू महासभा उस समय सक्रिय हुई थी जब राज्य के प्रधानमंत्री राजा महाराजसिंह ने, जो ईसाई थे, गोवध निषेध के सम्बन्ध में रियासत के कानून को कुछ नरम करना चाहा था। जहाँ तक रियासत का भारत के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रश्न था, हिन्दू महासभा पहले रियासत के भारत में

विलय के पक्ष में थी। बाद में उसने रियासत के भारत में विलय से पूर्व के प्रधानमन्त्री श्री रामचन्द्र काक के चक्र में आकर रियासत को स्वतन्त्र रखने की बात का समर्थन शुरू कर दिया था। कुछ समय तक महाराजा हरिसिंह भी रियासत को स्वतन्त्र रखने के पक्ष में था। इसलिए हिन्दू सभा के नेता इस माँग का समर्थन करना अपनी राजभक्ति का अंग मानने लगे थे। इस कारण वे भारत के जनमत और भारत के सत्तारूढ़ नेताओं से अपने-आपको बिल्कुल काट चुके थे।

जम्मू क्षेत्र के मुसलमान मुस्लिम कॉन्फ्रेंस के साथ थे। इसकी नींव शेख अब्दुल्ला ने १९३०-३१ में डाली थी। जब १९३६ में कश्मीर में शेख अब्दुल्ला ने मुस्लिम कॉन्फ्रेंस को नेशनल कॉन्फ्रेंस में बदल दिया तब जम्मू की मुस्लिम कॉन्फ्रेंस और इसका नेतृत्व उससे अलग हो गया। जम्मू क्षेत्र में मुस्लिम कॉन्फ्रेंस अक्टूबर, १९४७ तक विद्यमान रही। परन्तु जम्मू-कश्मीर के महाराजा द्वारा विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर देने और भारत सरकार द्वारा उसे स्वीकार कर लेने के बाद उसके नेता पाकिस्तान भाग गए और यह संस्था लगभग समाप्त हो गई।

शेख अब्दुल्ला की नेशनल कॉन्फ्रेंस का अस्तित्व जम्मू में नगण्य था। उसके 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन के बाद, जो मूलतः जम्मू के लोगों के विरुद्ध था, उसके लिए जम्मू में किसी प्रकार की सद्भावना का प्रश्न ही नहीं था। केवल चन्द कम्युनिस्ट अपनी पार्टी की नीति के अनुसार शेख अब्दुल्ला का समर्थन करते थे। शेख अब्दुल्ला के हाथ में सारे राज्य की सत्ता आ जाने के कारण वे जम्मू में सक्रिय हो गए थे परन्तु उन्हें जन-समर्थन बिल्कुल प्राप्त नहीं था।

पं० प्रेमनाथ डोगरा जम्मू क्षेत्र में लोकप्रिय थे और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संगठन इस क्षेत्र के कोने-कोने में फैल चुका था। इसे जन-समर्थन भी प्राप्त था। किन्तु यह राजनीति से बिल्कुल अलग था।

यदि कश्मीर घाटी में शेख अब्दुल्ला की नेशनल कॉन्फ्रेंस की तरह का कोई प्रभावी क्षेत्रीय राजनैतिक संगठन और नेतृत्व जम्मू में होता तो सत्ता के हस्तान्तरण के समय जम्मू क्षेत्र में सत्ता उसको दी जाती या शेख अब्दुल्ला को उसके साथ सत्ता बाँटने के लिए विवश किया जाता। सत्ता-

हस्तान्तरण के पहले रियासत के प्रधानमंत्री श्री मेहरचन्द महाजन ने यह बात स्पष्ट रूप में मुझसे कही थी। इस प्रकार के संगठन के अभाव में शेख अब्दुल्ला को बिना माँगे ही जम्मू की सत्ता भी सौंप दी गई थी। परन्तु अभी तक जम्मू में उसका कोई जन-आधार नहीं था। इसीलिए वह सत्ता-प्राप्ति के बाद १० नवम्बर तक जम्मू में आया तक नहीं था।

मेरा मस्तिष्क इस मामले में स्पष्ट था कि यदि शीघ्र ही जम्मू में कोई सशक्त और लोकप्रिय राजनैतिक संगठन खड़ा न किया गया तो शेख अब्दुल्ला राजसत्ता के बल पर नेशनल काँग्रेस को जम्मू में भी फैला देगा और इस प्रकार जम्मू-विरोधी और भारत-विरोधी नीतियाँ जम्मू की जनता पर भी लाद दी जाएँगी।

सबसे पहले मैंने प्रयत्न किया कि जम्मू क्षेत्र के उन लोगों को, जिनका राजनीति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सम्बन्ध था, इकट्ठा करके उन्हें एक नया राष्ट्रवादी क्षेत्रीय दल संगठित करने के लिए आगे आने के लिए प्रेरित करूँ। इस हेतु बुलाई गई बैठक में डोगरा सभा और हिन्दू सभा के नेताओं के साथ-साथ कुछ अवकाशप्राप्त वरिष्ठ सेना-अधिकारियों को भी निमन्त्रित किया गया। यह बैठक पं० प्रेमनाथ डोगरा के मकान पर हुई और वे स्वयं भी इसमें शामिल हुए।

सबसे पहले मैंने जम्मू-कश्मीर की अद्यतन स्थिति और इसकी ऐतिहासिक, भौगोलिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला और जम्मू में राजनैतिक रिक्तता को भरने के लिए शीघ्र ही जम्मू के जन-जीवन पर आधारित एक राष्ट्रवादी दल के गठन का सुझाव दिया। लगभग सबने स्थिति के सम्बन्ध में मेरे विचारों का अनुमोदन किया और राजनैतिक दल की आवश्यकता को भी स्वीकार किया। परन्तु इस मामले में उनमें से कोई आगे आने को तैयार नहीं था। उन सबने पं० प्रेमनाथ डोगरा को आगे आने और राजनैतिक क्षेत्र में भी जम्मू के लोगों का नेतृत्व करने का अनुरोध किया। परन्तु पं० प्रेमनाथजी ने जम्मू के संचालक होने के कारण प्रत्यक्ष राजनीति में आने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

पंडितजी के इन्कार के बाद मैंने उपस्थित बन्धुओं से एक-एक कर आगे आने का अनुरोध किया। पहले तो उन्होंने इधर-उधर की बातों से मेरे

अनुरोध को टालने का प्रयत्न किया परन्तु विस्तृत पूछताछ के बाद उनके मन के भाव ओठों पर आ ही गए। उनका कहना था कि शेख अब्दुल्ला को भारत सरकार ने राज्य की राज्यसत्ता सौंपी है। वह पं० नेहरू का विश्वासपात्र है इसलिए इस समय ऐसा कुछ भी करना, जो शेख अब्दुल्ला को रचकर न हो, जम्मू के लोगों के हित में नहीं होगा। दूसरे उनका कहना था कि जम्मू में पाँव जमाने के लिए उसे जम्मू के लोगों का सहयोग प्राप्त करना होगा और इस हेतु उसे जम्मू के जाने-पहचाने राजनीतिज्ञों का सहयोग लेना पड़ेगा। उनकी बातों से मुझे आभास हुआ कि उनमें से कुछ यह भी सोच रहे हैं कि शायद शेख अब्दुल्ला उन्हें अपने मन्त्रिमण्डल में शामिल कर ले। उनका यह स्वार्थ भाव उनके द्वारा मेरे सुझाव को स्वीकार करने में मुख्य बाधा बन रहा था। इस अनुभूति के बाद मैं समझ गया कि इन पुराने महारथियों के तिलों में तेल नहीं और उनके साथ अधिक माथापच्ची करना व्यर्थ है।

पं० प्रेमनाथ डोगरा ही जम्मू के एकमात्र प्रमुख व्यक्ति थे जो निजी स्वार्थभावना से ऊपर उठ चुके थे। यदि उनके नेतृत्व में दल का गठन हो पाता तो यह जंगल की आग की तरह तेजी से सारे प्रदेश में फैल सकता था, परन्तु उनकी विवशता थी। वे राजनैतिक दल की आवश्यकता को महसूस करने लगे थे और यदि संघ के बन्धुओं का नागपुर से पूर्व अनुमति का आग्रह न होता तो वे निश्चय ही जम्मू को उचित राजनैतिक नेतृत्व दे पाते।

यह स्थिति निराशाजनक थी। एक ओर राजनैतिक दल की आवश्यकता और राजनैतिक प्रश्नों से राजनैतिक ढंग से निपटने की अनिवार्यता बढ़ रही थी और दूसरी ओर जम्मू के राजनैतिक तत्त्व इस आशा में कि शायद शेख के दस्तरखान से उनकी ओर भी कोई टुकड़ा आ गिरे, किकर्तव्य-विमूढ़ हुए बैठे थे। इन हालात में गहरे सोच-विचार के बाद मुझे लगा कि इधर-उधर देखने की बजाय मुझे स्वयं ही आगे बढ़कर पहल करनी चाहिए। मेरी कठिनाई यह थी कि मैं डोगरा, यानी जम्मू क्षेत्र का मूल निवासी नहीं था। मेरे पूज्य पिता श्री जगन्नाथजी और उनसे पहले उनके बड़े भाई श्री सुन्दरदासजी सन् १९०० के लगभग रियासत में सरकारी नौकरी के सिलसिले में गुजरांवाला से आए थे। रियासत के पुश्तैनी दीवान भी गुजरां-

वाला ज़िला के नन्दा क्षत्रिय थे। इसलिए गुजरांवाला क्षेत्र के बहुत-से लोग रियासत में उच्च पदों पर आसीन रह चुके थे। मेरा जन्म भी इसी रियासत के सीमावर्ती क्षेत्र लद्दाख की शीतकालीन राजधानी अस्कई में हुआ था। फिर भी ठेठ डोगरों की नज़रों में मैं पंजाबी था। इसलिए मुझे यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि मैं किसी ठेठ डोगरा को आगे कहूँ।

इस विचार से मैंने इधर-उधर नज़र दौड़ानी शुरू की। राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ के पास ऐसे बहुत-से नवयुवक थे परन्तु उनमें से अधिकतर के कन्धों पर संघ-कार्य की कुछ-न-कुछ जिम्मेदारी थी। इसलिए उनकी वही विवशता थी जो पं० प्रेमनाथ डोगरा की थी। बचे हुएों में से एक युवक मुझे जँचा। उसका नाम हरि वज़ीर था। वह भद्रवाह के एक सम्भ्रान्त वज़ीर राजपूत परिवार में से था और बी० ए० का विद्यार्थी था। हंसराज शर्मा नामक एक और युवक भी मेरी नज़र में था। वह भी बी० ए० का विद्यार्थी था। मैंने उन दोनों को बुलाया और अपनी योजना उनके सामने रखी।

मेरी बात सुनकर वे अवाक् रह गए। उनके हृदय में मेरे प्रति प्रेम और श्रद्धा थी। वे मेरी किसी बात को टाल नहीं सकते थे, परन्तु नए प्रस्तावित राजनैतिक संगठन का अध्यक्ष और मन्त्री बनने की बात उनकी कल्पना से परे थी। उन्होंने कहा कि वे मुझे पूरा सहयोग तो अवश्य देंगे परन्तु पदाधिकारी बनना उनके वश की बात नहीं। उनका आग्रह था कि मैं स्वयं नए दल का अध्यक्ष बनूँ, परन्तु जब मैंने उन्हें सारी स्थिति समझाई तो वे मेरे सुझाव से सहमत हो गए। इस प्रकार तय हुआ कि प्रस्तावित नया दल श्री हरि वज़ीर की अध्यक्षता में काम शुरू करेगा और श्री हंसराज इसके मन्त्री होंगे परन्तु यह स्पष्ट था कि दल को संगठित करने और फैलाने की सारी जिम्मेदारी मुझे स्वयं सँभालनी होगी और औपचारिक रूप में मैं इसका महामन्त्री कहलाऊँगा।

इसके बाद दल के नाम और घोषणा-पत्र बनाने का प्रश्न था। नाम के विषय में पं० प्रेमनाथ डोगरा तथा अन्य बन्धुओं के साथ भी विचार-विनिमय करने के बाद यह तय हुआ कि दल का नाम 'जम्मू प्रजा परिषद्' रखा जाय।

घोषणा-पत्र तो मुझे ही बनाना था। मैंने पहले इसे अंग्रेज़ी में लिखा।

और साथियों को दिखाने के बाद छपने को दे दिया। इसका हिन्दी और उर्दू रूपान्तर भी मैंने स्वयं ही किया।

जम्मू-कश्मीर प्रजा परिषद् के घोषणा-पत्र में जम्मू-कश्मीर की राज-नैतिक स्थिति का विशद विवरण और विश्लेषण देने के बाद प्रजा परिषद् के निर्माण की आवश्यकता और इसकी वैचारिक भूमिका बताई गई थी। इस घोषणा-पत्र में दिये गए प्रजा परिषद् के घोषित उद्देश्य निम्नलिखित थे—

१. जम्मू-कश्मीर राज्य को भारत के एक अभिन्न अंग के रूप में भारत गणराज्य के अन्य राज्यों के समकक्ष लाना और इस पर भारत के संविधान को, जो उस समय बनाया जा रहा था, पूरी तरह लागू करना।

२. जम्मू-कश्मीर राज्य का जो भाग पाकिस्तान ने बलपूर्वक अपने अधिकार में ले लिया है वहाँ से उसे खदेड़ने के काम में भारत सरकार और सेना को हर प्रकार का सहयोग देना।

३. जम्मू-कश्मीर राज्य के अन्तर्गत जम्मू और लद्दाख को प्रशासन और विकास में समान स्थान दिलाना।

४. इन क्षेत्रों की भौगोलिक सीमाओं का संरक्षण करना और उनमें राजनैतिक अथवा साम्प्रदायिक कारणों से फेर-बदल को रोकना।

५. सारे राज्य के सम्यक् आर्थिक विकास के लिए ऐसी आर्थिक नीति अपनाना जिसमें पिछड़े इलाकों और वर्गों की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

६. छुआछूत का उन्मूलन करके हरिजन बन्धुओं और शेष समाज में एकता, बराबरी और सद्भावना का वातावरण पैदा करना।

७. पाकिस्तान और रियासत के पाकिस्तान-अधिकृत क्षेत्रों से आए हुए शरणार्थियों के रियासत में पुनर्वास के लिए भरसक प्रयत्न करना।

८. अवकाश-प्राप्त सैनिकों के पुनर्वास की ओर विशेष ध्यान देना।

९. कृषि के विकास की ओर विशेष ध्यान देना और जम्मू-क्षेत्र में बहने वाली नदियों रावी, चिनाब, उझ और रावी के पानी से जम्मू के सुखाग्रस्त कंडी क्षेत्र में सिंचाई का प्रबन्ध करना और पन-बिजली उत्पादन की ओर विशेष ध्यान देना।

१०. जम्मू-क्षेत्र के रमणीक स्थानों—कुद, बटोत, सनासर, पतनी

टाप, भद्रवाह, किश्तवाड़, बनिहाल का पर्यटन केन्द्रों की दृष्टि से विकास करना ।

घोषणा-पत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि प्रजा परिषद् की नेशनल कॉन्फ्रेंस और शेख अब्दुल्ला की जम्मू-विरोधी पृष्ठभूमि के कारण उनके इरादों पर सन्देह है । इसलिए आवश्यक है कि जम्मू प्रदेश के शासन में जम्मू के प्रतिनिधियों को उचित स्थान दिया जाय और ऐसी कोई नीति न अपनाई जाय जो जम्मू के विशिष्ट हितों के प्रतिकूल हो ।

घोषणा-पत्र में जम्मू प्रान्त के पश्चिमी भाग पर बढ़ते हुए पाकिस्तानी दबाव का भी उल्लेख किया गया था और आशा प्रकट की गई थी कि भारत सरकार और भारतीय सेना इस क्षेत्र की रक्षा और वहाँ घिरे हुए हिन्दुओं को बचाने के काम को प्राथमिकता देगी ।

इस नए दल के निर्माण की घोषणा और इस घोषणा-पत्र के विमोचन से जम्मू के राजनैतिक क्षेत्रों में हलचल पैदा हो गई । यह दूर-दूर तक चर्चा का विषय बन गया । जम्मू के राष्ट्रवादी तत्त्वों ने इसका हार्दिक स्वागत किया । जम्मू की आम जनता में इसके कारण नए उत्साह और नई आशा का संचार हुआ और उसकी ओर से नए दल के संगठन और प्रसार के लिए हर प्रकार के सहयोग का आश्वासन मिलने लगा ।

नेशनल कॉन्फ्रेंस और कम्युनिस्ट हलकों में इससे खलबली मच गई । उनकी ओर से इसकी आलोचना और विरोध सम्भावित ही था । उनकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया प्रजा परिषद् को साधारण जनता में लोकप्रिय बनाने में सहायक सिद्ध होगी, इस विश्वास के साथ मैंने उनके विरोध की पूर्ण उपेक्षा करने का फैसला किया ।

राजनैतिक दृष्टि से प्रजा परिषद् के निर्माण के कारण उत्साह और आशा का माहौल बना । परन्तु सैनिक दृष्टि से पाकिस्तान और पाकिस्तान के समर्थकों की, भिम्बर, कोटली, मीरपुर, राजौरी इत्यादि नगरों और इनके साथ लगने वाले मुस्लिम-बहुल क्षेत्र में बढ़ती हुई गतिविधियों ने विपरीत स्थिति पैदा कर दी । पाकिस्तान के दबाव के आगे गिरने वाला जम्मू प्रान्त का पहला नगर भिम्बर था ।

भिम्बर का पतन

६ नवम्बर को प्रातः ही चिनाव नदी के पश्चिमी तट पर स्थित अखनूर नगर से कुछ लोग पं० प्रेमनाथ डोगरा को आकर मिले और उन्हें बताया कि उनकी सूचना के अनुसार भिम्बर नगर और उसके निकटवर्ती क्षेत्र पर पाकिस्तानियों का दबाव बढ़ रहा है। उन्होंने घिरे हुए लोगों को बचाने के लिए शीघ्र उधर भारतीय सेना को भिजवाने की आवश्यकता बताई और इस दिशा में कुछ करने की प्रार्थना की। दोपहर को भिम्बर क्षेत्र के निकट के कुछ लोगों ने आकर इस समाचार की पुष्टि की। मैंने जम्मू में भारतीय सेना के कमाण्डर ब्रिगेडियर परांजपे को उसी दिन मिलने का प्रयत्न किया, परन्तु उस दिन उनसे सम्पर्क न हो सका। अगले दिन भिम्बर से भागे हुए कुछ लोग जम्मू पहुँचे। उनमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कुछ कार्यकर्ता भी थे। उन्होंने बताया कि भिम्बर का खेल समाप्त हो गया है। भिम्बर के पतन और वहाँ पर हुए अत्याचार और नरसंहार का जो चित्र उन्होंने दिया वह हृदयविदारक था।

भिम्बर पाकिस्तान की सीमा से चार मील पर और गुजरात नगर से लगभग २५ मील पर स्थित है। भिम्बर के आसपास के लोग मुख्यतः चिव राजपूत हैं। इन्हें मुगल बादशाह जहाँगीर के समय में बलात् मुसलमान बनाया गया था। इनमें से कुछ अभी हिन्दू हैं और इस समय भिम्बर तहसील के देवा बटाला क्षेत्र में बसे हुए थे। इन मुसलमानों का रहन-सहन उस समय तक हिन्दू राजपूतों जैसा ही था और वे अधिक मतान्ध भी न थे।

परन्तु जब पाकिस्तान से सारे हिन्दू निकाले या मार दिए गए और उनके मकानों, ज़मीनों और सम्पत्ति पर स्थानीय मुसलमानों ने अधिकार कर लिया तब इन पर भी पाकिस्तानी प्रचार का असर होने लगा और

अपने हिन्दू पड़ोसियों की धन-सम्पत्ति और स्त्रियों को हड़पने की इच्छा उनमें भी जागृत होने लगी।

कश्मीर पर पाकिस्तान का आक्रमण शुरू होने पर गुजरात क्षेत्र से भी सशस्त्र पाकिस्तानी, जिनमें बहुत-से छुट्टी पर आए हुए तथा अवकाशप्राप्त सैनिक भी थे, भिम्बर की सीमा में घुसने लगे। रियासत की सैनिक टुकड़ियों ने उनका प्रतिरोध किया परन्तु उनका गोला-बारूद खत्म हो जाने पर वे अप्रभावी हो गए। नगर के अन्दर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता जनता को आत्मरक्षा के लिए तैयार करते रहे और उसका उत्साह बढ़ाते रहे। उन्हें आशा थी कि भारत की सेना उनके बचाव को भी आएगी परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए उनकी आशा निराशा में बदलती गई।

६ नवम्बर सायंकाल को गुजरात से आने वाले सशस्त्र पाकिस्तानियों ने भिम्बर नगर को चारों ओर से घेर लिया। स्थानीय मुसलमान भी लूट की आशा में उनके साथ मिल गए। नगर में घिरे लोगों ने कुछ घण्टों तक उनको नगर में घुसने से रोके रखा परन्तु गोला-बारूद के अभाव में अधिक देर तक प्रतिरोध न कर सके।

पाकिस्तानियों ने नगर में घुसते ही मार-काट और लूट-पाट शुरू कर दी। सैकड़ों हिन्दू जान से मार दिए गए और अनेक स्त्रियों को वहाँ से बलात् उठा लिया गया। बहुत-सी हिन्दू स्त्रियों ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए ज़हर खा लिया या कुओं में छलाँगें लगा दीं। कई युवकों ने अपने हाथों से अपनी बहनों और पत्नियों के आग्रह पर उनका वध करके शत्रु से लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की। बहुत-से लोग अपना घरबार छोड़कर जम्मू की ओर भाग निकले। देवा बटाला का हिन्दू क्षेत्र निकट होने के कारण उनमें से बहुत सारे अपनी जान बचाने में सफल हुए।

भिम्बर में जिन युवकों और संघ के स्वयंसेवकों ने बड़ी बहादुरी का परिचय दिया, उनमें से एक विक्रमाजीत कोहली था। यह युवक उस समय जम्मू के प्रिंस ऑफ वेल्स कॉलेज में साइंस का विद्यार्थी था और संघ का कर्मठ स्वयंसेवक था। भिम्बर के पतन के बाद वह भी वहाँ से बच निकला। बाद में अपनी शिक्षा समाप्त करके वह दिल्ली के एक कॉलेज में भौतिक विज्ञान का प्राध्यापक बना।

भिम्बर के पतन से मीरपुर के विषय में भी सारे जम्मू में चिन्ता व्याप्त हो गई। जम्मू में ऐसे बहुत-से लोग थे जिनके मित्र अथवा निकट सम्बन्धी मीरपुर में घिरे हुए थे इसलिए अगले ही दिन जम्मू के लोगों का एक शिष्ट-मण्डल पं० प्रेमनाथ डोगरा के नेतृत्व में ब्रिगेडियर परांजपे से मिला और उन्हें भिम्बर के अनुभव के प्रकाश में मीरपुर क्षेत्र के लिए तुरन्त सैनिक सहायता भेजने का अनुरोध किया।

ब्रिगेडियर परांजपे ने हमारी बातों को बड़े धैर्य और सहानुभूति से सुना परन्तु उन्होंने मीरपुर की ओर भारतीय सेना भेजने में अपनी असमर्थता प्रकट की। श्री परांजपे ने इसके दो कारण बताए। पहला यह कि जितनी भी सेना आ रही है वह सारी कश्मीर भेजी जा रही है। पठानकोट और जम्मू के बीच अच्छी सड़क और रावी, उझ तथा अन्य नदियों पर पुलों के अभाव में सेना बड़ी संख्या में नहीं आ पा रही। बड़ी तोपें, टैंक आदि तो लाए ही नहीं जा सकते। इसलिए इस थोड़ी-सी सेना को बहुत बड़े क्षेत्र में फैला देना सामरिक दृष्टि से उचित नहीं। पहले कश्मीर घाटी और कश्मीर तक जाने वाली सड़क की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध करना होगा, फिर सेना कहीं और भेजी जा सकती है।

दूसरा कारण उन्होंने यह बताया कि उन्हें भारतीय उच्चकमान का आदेश है कि भारतीय सेना के फैलाव के मामले में वे शेख अब्दुल्ला या उसके प्रतिनिधि के परामर्श और मार्गदर्शन में काम करें। इसलिए शेख अब्दुल्ला की अनुमति के बिना वे भारतीय सेना को मीरपुर की ओर नहीं भेज सकते।

जब श्री परांजपे को यह बताया गया कि कश्मीर घाटी तो शत्रु से मुक्त करा ली गई है और वहाँ तुरन्त कोई खतरा नहीं जबकि मीरपुर में घिरे बीस हजार से अधिक हिन्दुओं की रक्षा के लिए वहाँ तुरन्त सहायता भेजना अनिवार्य है अन्यथा वे सभी मौत के घाट उतार दिए जाएँगे, तब उन्होंने कहा कि वे स्थिति की गंभीरता को समझते हैं और कि वे हमारी माँग को उच्च कमान तक पहुँचा देंगे, परन्तु साथ ही उन्होंने चेतावनी भी दी कि पं० नेहरू शेख अब्दुल्ला की मर्जी के विरुद्ध सेना को कुछ करने नहीं देंगे। इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि हम अपनी बात पं० नेहरू के सामने रखें।

उन्होंने यह भी बताया कि १५ नवम्बर को श्रीनगर जाते हुए पं० नेहरू जम्मू के हवाई अड्डे पर कुछ समय के लिए रुकेंगे। उन्होंने आश्वासन दिया कि वे हमें पं० नेहरू से मिलवा देंगे।

इस बीच मीरपुर क्षेत्र से लगातार सहायता की मांग आती रही। भिम्बर के और उसके आसपास के क्षेत्र के हिन्दू भी अपनी दर्दभरी कहानी लेकर शरणार्थी रूप में जम्मू में आने लगे। अभी तक जम्मू में केवल पाकिस्तान को मिले पंजाब से शरणार्थी आ रहे थे। अब रियासत के अन्दर से भी आने लगे। इसलिए संघ द्वारा संचालित पंजाब रिलीफ कमिटी का काम बहुत बढ़ गया और दुर्गादास वर्मा और श्री श्यामलाल शर्मा के नेतृत्व में जम्मू के सभी स्वयंसेवक दिन-रात उसी काम में लगे रहे।

इसके साथ-ही-साथ १५ नवम्बर की अधीरता से प्रतीक्षा होने लगी। निश्चित तिथि और समय पर हम लोग जम्मू के हवाई अड्डे पर पहुँच गए।

पं० नेहरू के वहाँ पहुँचने के कुछ देर बाद ब्रिगेडियर परांजपे ने हमारी उनसे मिलने की व्यवस्था कर दी।

पं० प्रेमनाथ डोगरा, वैद्य विष्णु गुप्त और मैंने पंडितजी के सामने सारी स्थिति रखी और उनसे सविनय प्रार्थना की कि वे सेना की एक टुकड़ी मीरपुर की ओर भेजने का आदेश दें।

पं० नेहरू अपनी आदत के अनुसार बड़े अधीर थे। उनके चेहरे पर क्रोध था मानो उनका मन जम्मू के लोगों के विरुद्ध हो। हमारी बात खत्म होते ही उन्होंने कहा कि आप लोग शेख साहब से बात करें। इस पर मैंने कहा कि शेख अब्दुल्ला से कई बार प्रार्थना की जा चुकी है परन्तु उनकी कोई रुचि मीरपुर को बचाने में नहीं दिखती हालाँकि कश्मीर में तुरन्त सहायता की आवश्यकता नहीं रही तो भी वे सारी सेना को कश्मीर भेजने का आग्रह कर रहा है, इसीलिए हम लोग आपके पास आए हैं।

इस पर पं० नेहरू का पारा चढ़ गया। 'पाजी', 'बेवकूफ' आदि अपशब्द कहते हुए उन्होंने फिर दुहराया कि शेख साहब से बात करो। हम लोग उनके व्यवहार और उत्तर से अवाक् रह गए।

इस अनुभव के बाद मेरा यह मत पक्का हो गया कि पं० नेहरू पूरी तरह शेख अब्दुल्ला के हाथ में हैं और वे उसकी मर्जी के बिना न कुछ करेंगे।

और न कुछ होने देंगे ।

शेख अब्दुल्ला के मत को मैं भली प्रकार जानता था । बुनियादी रूप में क्षेत्रवादी और साम्प्रदायिक होने के कारण उसके मन में जम्मू के हिन्दुओं के लिए कोई सहानुभूति नहीं थी । उसे इस बात का भी रोष था कि जम्मू के मुसलमानों को अपना घरबार छोड़कर जाना पड़ा । इसलिए लगता था कि उसकी भिम्बर या मीरपुर में घिरे हिन्दुओं के प्रति न कोई सहानुभूति थी और न उनको बचाने में कोई रुचि ।

इस अनुभव से मेरा यह मत कि जब तक जम्मू की जनता का राजनैतिक दबाव नहीं बनता, तब तक उसके हितों की रक्षा न भारत सरकार करेगी और न शेख अब्दुल्ला, और भी पक्का हो गया ।

मीरपुर का हत्याकाण्ड

मीरपुर, जिसे सिन्ध प्रान्त के इसी नाम के नगर से विशिष्ट करने के लिए मीरपुर चोमक भी कहा जाता है, जम्मू-कश्मीर राज्य के जम्मू प्रदेश के इसी नाम के सीमावर्ती पश्चिमी ज़िले का केन्द्रस्थान था। यह भाषा और भूगोल की दृष्टि से पंजाब के प्राचीन काल के अभिसार और वर्तमान पोठोहार क्षेत्र का हिस्सा है। महाराजा पोरस, जिसने यवन सिकन्दर का जेहलम नदी के तट पर मुकाबला किया था, इसी क्षेत्र का राजा था। जेहलम नदी के तट पर स्थित मंगला पहाड़ी, जिस पर मंगलागढ़ और उसमें मंगला माई का मन्दिर है, इसी ज़िले के अन्तर्गत मीरपुर नगर से दस मील पर स्थित है। जेहलम नदी जम्मू-कश्मीर राज्य और इस ज़िले की पश्चिमी सीमा है। मंगला पहाड़ी के पास ही से जेहलम नदी से अपर जेहलम नहर निकाली गई है जो लगभग बीस मील तक इस ज़िले में से गुज़रकर फिर पश्चिमी पंजाब में दाखिल होती है। अब पाकिस्तान ने इस स्थान पर एक विशाल बाँध बनाया है। इस बाँध से जेहलम नदी के पानी को इकट्ठा किया गया है और उसमें से सिंचाई के लिए नई नहरें निकाली गई हैं और बहुत बड़ी मात्रा में विद्युत्-शक्ति पैदा की जाती है।

यह नगर एक ऊँचे टीले पर बसा हुआ है जिसके पश्चिम में एक गहरी खड्ड है जिसका पानी जाकर जेहलम में गिरता है। नगर के इर्द-गिर्द दीवार बनी हुई थी जो कई स्थानों पर टूट चुकी थी। पर उत्तर और दक्षिण में दो पक्के द्वार कायम थे। इस नगर को एक सड़क जेहलम नगर से मिलाती थी जो कुछ दूर तक अपर जेहलम नहर के साथ-साथ जाती थी। अलीबेग का गाँव और गुरुद्वारा भी इसी नहर के तीर पर इसी सड़क पर स्थित थे। एक दूसरी सड़क इसे उत्तर में कोटली और पुँछ से मिलाती थी। कोटली

इसी ज़िले की एक तहसील थी। एक अन्य कच्ची सड़क भिम्बर भी जाती थी जो इसी ज़िले की दूसरी तहसील का मुख्यालय था।

१९४७ से पहले इस नगर की जनसंख्या लगभग ५ हजार थी जिसमें हिन्दू अधिक थे। यह नगर महाजन लोगों का केन्द्र था। ये लोग वैश्य थे परन्तु शेष भारत के अग्रवाल वैश्यों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। इनका कद लम्बा, रंग गोरा और भाषा बड़ी मधुर थी। इस नगर में बुनकरों की भी अच्छी आबादी थी जो अधिकतर मुसलमान थे। यह इस क्षेत्र का सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। जेहलम नदी से लेकर पुँछ तक के व्यापारी माल लेने यहाँ आते थे। इसके इर्द-गिर्द का क्षेत्र कम वर्षा और सिंचाई की सुविधा न होने के कारण खेती की दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। परन्तु इस ज़िले के बहुत-से लोग भारतीय स्थल सेना और जल सेना में भरती थे। इसलिए उनके वेतन और पेन्शन का काफ़ी धन इस ज़िले में आता था। जिस कारण लोग समृद्ध थे। हर ग्राम में कुछ अवकाशप्राप्त सैनिक और अफ़सर रहते थे। उनके पास अस्त्र-शस्त्र भी थे।

सारे ज़िले में हिन्दुओं की जनसंख्या २०% से भी कम थी। इस क्षेत्र के अधिकतर लोग जहाँगीर और औरंगज़ेब के समय में बलात् मुस्लिम बनाये गए थे। साधारणतया उनके अपने हिन्दू भाइयों के साथ सम्बन्ध अच्छे थे। परन्तु मुस्लिम लीग के प्रचार के कारण उनमें भी मतान्धता पैदा हो रही थी और वे रियासत को पाकिस्तान में मिला देखना चाहते थे। इसलिए ज्यों-ज्यों भारत-विभाजन की सम्भावना बढ़ती गई, इस क्षेत्र के लोगों में मुस्लिम कॉन्फ़ेंस का प्रभाव बढ़ने लगा।

१५ अगस्त, १९४७ के बाद मीरपुर और पुँछ क्षेत्र में पाकिस्तानियों ने घुसकर वहाँ पाकिस्तान के पक्ष में प्रचार तेज़ कर दिया था। इस कारण कहीं-कहीं उपद्रव और हिन्दुओं के घरों में लूटमार के समाचार मिलने लगे। रियासत की सरकार ने स्थिति पर काबू पाने और पाकिस्तानी घुसपैठियों से निपटने के लिए कर्नल बलदेवसिंह पठानियाँ की कमांड में एक पलटन सेना इस क्षेत्र में भेज दी थी और स्थिति पर कुछ हद तक काबू भी पा लिया था।

परन्तु जब अक्तूबर मास में पाकिस्तान ने एबटाबाद और कोहाला

की ओर से कश्मीर घाटी पर आक्रमण शुरू किया तब उसने मीरपुर, पुँछ सीमा पर भी अपना दबाव बढ़ा दिया। पाकिस्तानी सेना में भर्ती इस क्षेत्र के हज़ारों सैनिकों को शस्त्रों समेत छुट्टी पर अपने घरों को भेज दिया गया ताकि वे स्थानीय लोगों को साथ लेकर वहाँ विद्रोह शुरू कर सकें। रियासत की सेना इस स्थिति को सँभालने के लिए तैयार नहीं थी। इसके संचार-साधन बड़े पिछड़े हुए थे और इसके पास गोला-बारूद की आपूर्ति बड़ी सीमित थी। भिम्बर पर पाकिस्तानियों का अधिकार हो जाने से संचार-स्थिति और भी खराब हो गई थी। इसलिए सेना ने अपने-आपको मीरपुर, कोटला, राजौरी, पुँछ आदि बड़े-बड़े नगरों में केन्द्रित कर लिया और इन नगरों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान देना शुरू किया। आसपास के ग्रामों से भी हिन्दू जनता इन नगरों में इकट्ठी होने लगी। सीमा के निकट होने के कारण मीरपुर में पश्चिमी पंजाब के जेहलम नगर तथा निकटवर्ती इलाके के हज़ारों हिन्दू भी पहले से ही शरणार्थी बनकर आ चुके थे। फलस्वरूप नवम्बर, १९४७ में इस नगर की जनसंख्या लगभग २० हज़ार तक पहुँच चुकी थी।

जब पाकिस्तानी आक्रान्ता कश्मीर की घाटी से खदेड़ दिए गए तब उनका दबाव मीरपुर-पुँछ क्षेत्र में और भी बढ़ गया। मीरपुर का सम्बन्ध आसपास के नगरों और ग्रामों से कट गया और पाकिस्तानी तथा स्थानीय मुसलमान नगर का घेरा तंग करने लगे। इसी बीच वहाँ पर भिम्बर के पतन की सूचना मिली। इससे उन लोगों का मनोबल भी, जो भारतीय सेना के रियासत में आ जाने के बाद उत्साह में थे, कम होने लगा। भिम्बर के पाकिस्तानियों के हाथ में पड़ जाने से मीरपुर का जम्मू के साथ तार और डाक का सम्बन्ध भी कट गया। सेना के पास वायरलेस सेट थे परन्तु वे भी तकनीकी त्रुटि के कारण बेकार हो चुके थे। इस प्रकार मीरपुर जम्मू से पूरी तरह कट गया। वहाँ की स्थिति की जो कुछ जानकारी जम्मू में थी उसके आधार पर शेख अब्दुल्ला से भारतीय सेना को शीघ्र मीरपुर की ओर भेजने की अनुनय-विनय की गई परन्तु वह टस से मस न हुआ। इस प्रकार बाहर से वहाँ सहायता पहुँचने का प्रश्न न रहा।

इस स्थिति में मीरपुर में घिरे लोगों और रियासती सेना के जवानों ने

अपने तौर पर यथासम्भव शहर की सुरक्षा का प्रबन्ध किया। परन्तु ज्यों-ज्यों पाकिस्तानियों का दबाव बढ़ता गया और जम्मू से किसी प्रकार की सहायता की आशा कम होती गई त्यों-त्यों घिरे हुए लोगों का मनोबल गिरने लगा। उनके पास भागकर निकल जाने का भी कोई रास्ता नहीं था। भिम्बर तक का सारा क्षेत्र पाकिस्तान के हाथ में जा चुका था और जम्मू जाने के लिए उसमें से होकर जाना पड़ता था।

नगर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कुछ कार्यकर्ता थे परन्तु वे निहत्थे थे। नगर में जो कुछ शस्त्र थे उनके बल पर उन्होंने कुछ विशेष स्थानों पर मोर्चे बना रखे थे। सेना के जवानों के साथ भी उनका पूरा तालमेल था। वे जनता का मनोबल बनाए रखने का भरसक प्रयत्न करते रहे परन्तु वे भी जानते थे कि जम्मू से कुमुक के अभाव में नगर को बहुत दिनों तक बचाना सम्भव नहीं होगा।

स्थिति अधिक विगड़ने पर सेना के जवानों का, जिनके पास बहुत सीमित गोला-बारूद था और जिनका सम्पर्क सेना की उस क्षेत्र की अन्य टुकड़ियों से कट चुका था, मनोबल भी गिरने लगा। २१ नवम्बर की रात को उनमें से कुछ चुपचाप मीरपुर से निकल गए।

इस बात की सूचना मिलते ही एक ओर नगर में लोगों का मनोबल पस्त हो गया और उनमें भगदड़ मचने लगी और दूसरी ओर पाकिस्तानियों ने अपना दबाव और प्रहार तेज कर दिए। दोपहर तक भगदड़ दौड़ में और दौड़ कत्लेआम में बदलने लगी। स्थानीय और पाकिस्तानी मुसलमान उस नगर की असहाय हिन्दू जनता पर चीलों की तरह टूट पड़े। रात तक हजारों हिन्दू कत्ल कर दिए गए और असंख्य माताओं और बहनों पर अमानुषिक अत्याचार किये गए। बहुत-सी माताओं और बहनों ने ज़हर खाकर या कुओं में छलाँग लगाकर आत्महत्या कर ली।

दिन-भर यह नरसंहार और लूटमार चलती रही। जो लोग भागने में सफल हो पाए उनमें से बहुत-से रास्ते में पकड़े गए या मार दिए गए। जो बच गए उनमें से लगभग पाँच हजार स्त्री-पुरुषों को पाकिस्तानी एक काफ़िला बनाकर जेहलम की ओर ले चले। जब यह काफ़िला जेहलम नहर के साथ-साथ चल रहा था तो अनेक स्त्रियों ने नहर में छलाँग लगाकर

आत्महत्या कर ली। रास्ते में भी इस काफ़िले में से अनेक स्त्रियों का बलात् अपहरण कर लिया गया।

यह सारा काफ़िला अलीवेग में जाकर रुका। वहाँ इसे एक शरणार्थी कैम्प का रूप दे दिया गया। वहाँ भी इस पर अमानुषिक अत्याचार किये गए। सारी स्त्रियों को अलग करके जेहलम और रावलपिंडी ले जाया गया और वहाँ उन्हें भेड़-बकरियों की तरह बेच डाला गया या वैसे ही बाँट दिया गया।

इस प्रकार मीरपुर में इकट्ठे बीस हजार के लगभग हिन्दुओं में से कठिनार्थ से दो हजार बचकर जम्मू पहुँचे। शेष में से पुरुष अधिकतर मार दिये गए और स्त्रियों ने या तो आत्महत्या कर ली या उन्हें मुसलमान भगाकर ले गए। हिन्दू स्त्रियों पर जो अत्याचार मीरपुर और अलीवेग कैम्प में हुए वे नादिरशाह और तैमूर के अत्याचारों को भी मात करते हैं। विभाजन के बाद पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, सीमाप्रान्त और पूर्वी बंगाल के अनेक गाँवों और नगरों में हिन्दुओं पर घोर अत्याचार और बड़े पैमाने पर हत्याकाण्ड हुए किन्तु मीरपुर का हत्याकाण्ड उनसे कहीं अधिक भयानक और विनाशकारी था।

जब २३ नवम्बर को मीरपुर के पतन और हत्याकाण्ड का समाचार जम्मू पहुँचा तो सारे नगर में हाहाकार मच गया। जम्मू नगर में मीरपुर क्षेत्र के अनेक लोग रहते थे। उनके घरों में तो मातम पड़ गया। किसी को भी पता नहीं था कि उसके सम्बन्धियों के साथ मीरपुर में क्या गुजरी है। जो लोग बचकर जम्मू पहुँचे, उन्हें भी उनके वहाँ से निकल आने के बाद हुए अत्याचारों की कोई प्रत्यक्ष जानकारी नहीं थी। परन्तु वे आपबीती के आधार पर अन्य लोगों की हालत का बेहतर अन्दाज़ लगा सकते थे।

भारत-विभाजन के बाद पाकिस्तान में हिन्दुओं के साथ बहुत अत्याचार हुए। शेखूपुरा आदि कई नगरों में तो उन्हें हजारों की संख्या में एक साथ मौत के घाट उतार दिया गया परन्तु विभाजन के तीन महीने बाद जम्मू-कश्मीर रियासत के भारत में विलय हो जाने और वहाँ पर भारतीय सेना के पहुँच जाने के बाद जो कुछ मीरपुर में हुआ वह सबसे अधिक भयानक और शर्मनाक था।

श्रीनगर में भारतीय सेना २७ अक्टूबर, १९४७ को पहुँच गई थी और ७ नवम्बर तक वह कश्मीर घाटी के अन्तिम नगर बारामूला से भी तीस मील आगे बढ़कर शत्रु को उड़ी तक खदेड़ चुकी थी। उसके दो सप्ताह बाद मीरपुर का यह काण्ड भारत सरकार के माथे पर भी ऐसा कलंक है जिसे धोया नहीं जा सकता।

इसके लिए भारतीय सेना को दोष देना ठीक नहीं होगा। उसे मीरपुर को बचाने के लिए उधर भेजा ही नहीं गया। सेना को वहाँ न भेजने की सारी जिम्मेदारी पं० नेहरू और शेख अब्दुल्ला पर है। पं० नेहरू ने सेना कहाँ भेजी जाय और कहाँ न भेजी जाय इसका फ़ैसला करना शेख अब्दुल्ला पर छोड़ दिया था। १५ नवम्बर को जम्मू के हवाई अड्डे पर यह बताने पर भी कि शेख अब्दुल्ला की मीरपुर को बचाने में कोई रुचि नहीं, पं० नेहरू का वहाँ सेना भेजने या न भेजने का फ़ैसला उसी पर छोड़ना उनके शेख अब्दुल्ला के प्रति अन्धविश्वास और उनके मन में मीरपुर में घिरे हिन्दुओं के लिए किसी प्रकार की सहानुभूति के अभाव का ही परिचायक था। इसलिए यदि किसी एक व्यक्ति पर मीरपुर के हत्याकाण्ड और हज़ारों बहनों के अपहरण और उन पर हुए अमानुषिक अत्याचारों की जिम्मेदारी डाली जा सकती है तो वह पं० जवाहरलाल नेहरू हैं। जब तक मीरपुर के हत्याकाण्ड की याद कायम रहेगी तब तक उन पर भी लानत भेजी जाती रहेगी।

जहाँ तक शेख अब्दुल्ला का सम्बन्ध है, उससे किसी अन्य व्यवहार की अपेक्षा करना व्यर्थ था। भारत और जम्मू-कश्मीर रियासत का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि जिस व्यक्ति के साम्प्रदायिक चरित्र के विषय में जम्मू का हर व्यक्ति और स्वयं भारत के उप-प्रधानमन्त्री सरदार पटेल पूरी तरह परिचित थे उसके विषय में पं० नेहरू देखते हुए भी अन्धे बने रहे।

मीरपुर का नरसंहार देश-विभाजन के साथ जुड़े हुए हत्याकाण्डों में सबसे बड़ा और जघन्य हत्याकाण्ड था। जम्मू-कश्मीर में भारतीय सेना के आने के बाद इस घटना का होना महाराज हरिसिंह के लिए एक गहरी चोट थी। उन्होंने शेख अब्दुल्ला की सत्ता सौंपने की अपमानजनक शर्त मानकर अपनी रियासत का भारत के साथ विलय इसलिए किया था कि उनकी प्रजा

पाकिस्तानी दरिन्दों और उनकी रियासत के अन्दर के मुस्लिम समर्थकों से बचाई जा सके। इस हत्याकाण्ड ने उनके मन में अपने फ़ैसले के औचित्य के सम्बन्ध में शंका पैदा कर दी।

भारत सरकार ने इस भयानक हत्याकाण्ड को देश और संसार की जनता के सामने लाने के बजाय उस पर पर्दापोशी करने का प्रयत्न किया। इसका यह रवैया ज़ख्म पर नमक छिड़कने के समान था।

इस हत्याकाण्ड ने सारे जम्मू क्षेत्र की हिन्दू जनता को विचलित कर दिया। लोगों को प्रजा परिषद् को सबल बनाने की आवश्यकता महसूस होने लगी और भारत सरकार तथा शेख अब्दुल्ला के प्रति रोष का भाव बढ़ने लगा। वे महसूस कर रहे थे कि पं० नेहरू की रुचि केवल कश्मीर में है। शेख अब्दुल्ला की तरह रियासत के शेष भागों को बचाने में उनकी न कोई रुचि है और न उनमें रहने वाले हिन्दुओं के लिए उनके मन में कोई सहानुभूति है।

मीरपुर के पतन के बाद कोटली और पुंछ की स्थिति और संकटमयी हो गई।

कोटली की गौरव-गाथा

मीरपुर के पतन के बाद पाकिस्तानी घुसपैठियों और सैनिकों का कोटली और पुँछ की ओर बढ़ने का रास्ता साफ़ हो गया। मीरपुर की लूट से स्थानीय मुसलमानों की भी हवस बढ़ गई। उन्होंने और सक्रिय ढंग से पाकिस्तानियों का साथ देना शुरू कर दिया। उनका अगला निशाना कोटली था।

कोटली नगर मीरपुर को पुँछ से मिलाने वाली सड़क पर स्थित एक अच्छा व्यापारिक केन्द्र था और यहाँ के स्थानीय हिन्दू, जिनमें से अधिकतर महाजन थे, खूब सम्पन्न थे। इस नगर में भी आसपास के ग्रामों से हज़ारों हिन्दू नर-नारी सुरक्षा की दृष्टि से इकट्ठे हो चुके थे। रियासती सेना की टुकड़ी भी नगर में मौजूद थी। इस नगर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अच्छी शाखा थी और यहाँ पर स्वयंसेवकों की एक अच्छी टोली थी। वे दिन-रात नगर की रक्षा के लिए बनाए गए मोर्चों पर डटे रहते थे और जनता का मनोबल बनाए रखने के लिए विभिन्न कार्यक्रम करते रहते थे।

जब मीरपुर के पतन और वहाँ की हिन्दू जनता की तबाही व बर्बादी के समाचार कोटली पहुँचे तो स्वाभाविक रूप में वहाँ पर भी डर और निराशा का वातावरण पैदा हो गया। सेना की टुकड़ी का मनोबल भी टूटने लगा। उसके पास भी गोला-बारूद लगभग समाप्त हो चुका था और जम्मू से सम्पर्क कट जाने के कारण आपूर्ति की कोई आशा भी नहीं थी।

मीरपुर के पतन के बाद भारतीय वायुसेना के विमानों ने इस क्षेत्र में घिरे हुए अन्य नगरों का हवाई सर्वेक्षण करने के लिए उड़ानें भरनी शुरू कीं। इससे यह आशा जगी कि शायद गोला-बारूद की आपूर्ति हो सके।

दूसरी ओर पाकिस्तानी भी समझने लगे थे कि यदि जल्दी ही कोटली

नगर को सर न किया तो भारतीय सेना इनकी सहायता को पहुँच सकती है। उनका इस नगर को लेना पुँछ को घेरने के लिए भी आवश्यक था। इसलिए उन्होंने भी नगर के इर्द-गिर्द मोर्चे बना लिए और नगर पर गोली-वर्षा शुरू कर दी। नगर के अन्दर के मोर्चों से उसका उत्तर भी दिया जाता था, जिस कारण कई पाकिस्तानी हताहत भी हुए। यह जवाबी गोलाबारी कई दिनों तक चलती रही। उसके बाद नगर के रक्षकों के पास गोलियाँ खत्म होने लगीं। इसलिए उनकी ओर से पाकिस्तानियों की गोलाबारी के मुकाबले में बहुत कम उत्तर मिलने लगे। इससे पाकिस्तानियों के हौसले और बुलन्द हुए और उन्होंने नगर के निकट आकर घेरे को पक्का और घना करना शुरू कर दिया।

नगर में घिरी सैनिक टुकड़ी ने किसी प्रकार जम्मू में सैनिक उच्च कमान को अपनी स्थिति से अवगत कर दिया और विमानों से गोला-बारूद फेंकने का आग्रह किया। उड़ान करने वाले वायुसेना के अधिकारी स्वयं भी सम्भवतः नगर की स्थिति को समझ गए थे। इसलिए उन्होंने नगर पर गोली-बारूद की कुछ पेटियाँ गिराईं परन्तु दुर्भाग्य से वे नगर के अन्दर या निकट न गिरकर कुछ दूर पहाड़ी की तलहटी पर गिरीं। वह तलहटी आस-पास बने पाकिस्तानी मोर्चेबन्दी की गोलियों की मार में आती थी इसलिए उनको वहाँ से उठाकर नगर में लाना एक समस्या बन गई।

परन्तु नगर की रक्षा करने और इसकी हज़ारों की संख्या में हिन्दू जनता को मीरपुर की पुनरावृत्ति से बचाने के लिए इन गोला-बारूद की पेटियों को अविलम्ब वहाँ से उठाकर नगर में लाना अनिवार्य था। इस काम के लिए सेना के कमाण्डर ने पहले अपने सैनिकों में से आत्मप्रेरणा से आगे बढ़कर यह काम करने को प्रस्तुत जवानों से अपील की, परन्तु उनमें से किसी ने भी अपने-आपको पेश नहीं किया। उनकी हिचकिचाहट समझ में आती थी। इस काम में निश्चित रूप से पाकिस्तानियों की गोलियों से मौत की सम्भावना बहुत अधिक थी।

जब कुछ देर तक कोई सैनिक आगे न बढ़ा तो संघ के कुछ स्वयंसेवकों ने यह काम करने की पेशकश की। उनकी आत्मोत्सर्ग की भावना से सभी लोग चमत्कृत हो उठे। चन्द क्षणों में ही इन स्वयंसेवकों ने पहाड़ी की

तलहटी पर लेटकर सरकना शुरू किया। उनके दाएँ-बाएँ पाकिस्तानियों की गोलियाँ आ रही थीं परन्तु प्रभुक्रपा से वे बिना आहत हुए उन गोला-बारूद की पेटियों तक पहुँच गए।

गोलियों से भरी इन भारी पेटियों को उठाकर चढ़ाई पर चढ़ना अधिक जोखिम का काम था। पेटियों को सिर पर उठाकर चढ़ना तो मौत को निमन्त्रण देना था। उनके सामने उस समय मृत्यु से डरने का प्रश्न नहीं था। उसके लिए तो वे तैयार होकर ही निकले थे। उनके सामने प्रश्न था उन गोला-बारूद की पेटियों को किसी प्रकार नगर तक ले जाना ताकि भारतीय सेना की कुमुक पहुँचने तक नगर की रक्षा हो सके। इसके लिए उन्होंने लेटकर पेटियों को ऊपर की ओर सरकाना शुरू किया।

पाकिस्तानी भी इस बात को समझ रहे थे कि यदि ये युवक इन पेटियों को नगर में ले जाने में सफल हो गए तो कोटली नगर सर करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाएगा। इसलिए उन्होंने उन युवकों को अपनी गोलियों का निशाना बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी परन्तु 'जाको राखे साँझियाँ, मार सके न कोय' के अनुरूप वे युवक ऊपर चढ़ते ही गए। उनमें से एक-दो को गोलियाँ लगीं परन्तु अपने महान् मिशन की सफलता के विचार ने उनमें ऐसा उत्साह भर दिया था कि वे खून से लथपथ होते हुए भी चढ़ते ही गए और अन्त में गोलियों की पेटियाँ नगर के अन्दर ले आने में सफल हो गए। बाद में उनमें से कुछ अपने ज़ख्मों के कारण वीरगति को प्राप्त हो गए।

स्वयंसेवकों की इस बहादुरी और राष्ट्रहित में आत्मोत्सर्ग की भावना ने कोटली में घिरे लोगों को नया जीवन दिया। कुछ दिनों के बाद भारतीय सेना की कुमुक वहाँ पहुँच गई और कोटली नगर बच गया।

परन्तु पाकिस्तानियों का दबाव इर्द-गिर्द के क्षेत्र में बढ़ता गया। उधर पुँछ नगर भी पाकिस्तानियों से घिरा हुआ था। उसका सामरिक महत्त्व भी अधिक था और उसमें सुरक्षा सेना भी अधिक थी। सैनिक अधिकारियों ने कुछ दिनों के बाद यह फ़ैसला किया कि अपनी शक्ति को बाँट रखने से शायद कोटली और पुँछ दोनों खतरे में पड़ जाएँ। इसलिए उन्होंने कोटली को खाली करके वहाँ की जनता को सुरक्षित पुँछ और जम्मू पहुँचाने की योजना

बनाई। कोटली के लोग ऐसा नहीं चाहते थे परन्तु सामरिक मामलों में स्वाभाविक रूप में सेना के अधिकारियों का मत ही मान्य होना था। अतः कोटली को सुयोजित ढंग से खाली करने और वहाँ की हिन्दू जनता को वहाँ से सुरक्षित रूप से निकालने का काम शुरू हुआ। इसके कारण कोटली के लोगों को अपने घरबार और सम्पत्ति से तो हाथ धोने पड़े परन्तु उनमें से अधिकतर लोगों की जानें तथा इज्जत बच गई। उनमें से बहुत-से लोग अब जम्मू और दिल्ली में बस चुके हैं। परन्तु जब कभी वे कोटली का वृत्त सुनाते हैं तो उनके मस्तक उन वीर स्वयंसेवकों के सम्मान में झुक जाते हैं।

कोटली के खाली हो जाने के बाद पाकिस्तानियों ने इस नगर पर भी अधिकार कर लिया और आज भी यह पाक-अधिकृत क्षेत्र में है। इस पर अधिकार करने के बाद पाकिस्तानियों का दबाव राजौरी और पुँछ पर बढ़ने लगा।

उस समय की सैनिक और सामरिक योजना पर दृष्टिपात करने से अब लगता है कि कोटली को खाली कर देने का निर्णय ठीक नहीं था। यदि कुछ दिन और कोटली में टिका जाता तो भारतीय सेना की और कुमुक वहाँ पहुँच सकती थी। उस हालत में सम्भवतः राजौरी का नगर भी बच जाता और मीरपुर को भी पुनः वापस लेना सम्भव हो जाता। परन्तु सैनिक-इतिहास में इस प्रकार के सामरिक निर्णय बहुत बार लेने ही पड़ते हैं। उसके लिए सेना के अधिकारियों को दोष देना उचित नहीं होगा।

कोटली के बचाव के वृत्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि पं० नेहरू ने १५ नवम्बर को जम्मू के हवाई अड्डे पर उनसे किये गए अनुरोध पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया होता और भारतीय सेना की एक टुकड़ी मीरपुर की रक्षा के लिए भेजी गई होती तो मीरपुर भी बच जाता और उसके बचने के बाद शायद कोटली का बचाव बिना विशेष प्रयत्न के हो जाता। उस समय तक पाकिस्तान अपनी सेना को खुले रूप में युद्ध में झोंकने को तैयार नहीं था। जम्मू-कश्मीर के शेष भारत के साथ विधिवत् विलय के बाद सारी रियासत की सुरक्षा की जिम्मेदारी भारत सरकार पर पड़ चुकी थी और भारतीय सेना उस जिम्मेदारी को निभाने में सक्षम थी परन्तु सेना

कहाँ भेजी जाय इसका फ़ैसला राजनैतिक स्तर पर किया जाता था, सैनिक स्तर पर नहीं। इसीलिए सशक्त सेना के साथ-साथ सशक्त और यथार्थ-वादी राजनैतिक नेतृत्व किसी भी देश अथवा क्षेत्र की सुरक्षा के लिए अपरिहार्य माना जाता है। ग़लत राजनैतिक नेतृत्व अच्छी-से-अच्छी सेना के काम पर पानी फेर देता है और सैनिक-विजय को पराजय में बदल देता है।

राजौरी का जौहर

जम्मू प्रदेश के मुस्लिम-बहुल क्षेत्र में एक और प्रमुख नगर राजौरी था । यह उस समय रियासी ज़िले का एक तहसील केन्द्र था परन्तु ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से यह जम्मू प्रदेश का सबसे महत्वपूर्ण स्थान था ।

राजौरी का प्राचीन नाम राजपुरी था और यह इसी नाम के राज्य की राजधानी था । कश्मीर के इतिहास पर कल्हण की 'राजतरंगिणी' में इसका भी उल्लेख मिलता है । यह जम्मू को कश्मीर की घाटी से अलग करने वाले पंचाल पर्वत के दक्षिण में उसकी तलहटी पर बसा हुआ है । प्राचीनकाल में पंजाब से कश्मीर घाटी जाने का यही रास्ता था । लाहौर से चलकर गुजरात, भिम्बर और राजौरी होकर यात्री पंचाल पर्वत की चढ़ाई शुरू करते थे । पर्वत की चोटी पर नन्दीमर्ग का विशाल मैदान है जिसकी ढलवान कश्मीर घाटी की ओर है । इस मैदान को पार करके नीचे उतरने पर कश्मीर घाटी का कोलगाम नगर आता है । वहाँ से कश्मीर की घाटी शुरू होती है । जहाँगीर इत्यादि मुगल बादशाह इसी रास्ते से कश्मीर जाया करते थे । इसलिए भिम्बर, राजौरी और नन्दीमर्ग में विशाल मुगल सरायें बनी हुई हैं जिनमें मुगल बादशाह कश्मीर-यात्रा के दौरान पड़ाव किया करते थे । इसी रास्ते में राजौरी के कुछ आगे 'नूरी छम्ब' नामक जलप्रपात है । किवदन्ति के अनुसार इसका नाम नूरी छम्ब इसलिए पड़ा क्योंकि जहाँगीर की महारानी नूरजहाँ इसके पास बैठकर इसकी फुहार का आनन्द लिया करती थी ।

प्राचीनकाल में राजपुरी और कश्मीर के राज्यों में गहरा सम्बन्ध था । कुछ काल तक राजपुरी का राज्य कश्मीर के अधीन भी रहा । कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में राजपुरी और इसके कश्मीर के साथ सम्बन्धों का विस्तृत

वर्णन किया है।

१४वीं शताब्दी के अन्त में कश्मीर की घाटी पर मुसलमान शासकों का अधिकार हो जाने और कश्मीर के लोगों को बलात् मुसलमान बनाए जाने के बाद राजपुरी का सम्बन्ध कश्मीर से कट गया। कश्मीर के बहुत-से हिन्दू-परिवार अपना धर्म और जीवन बचाने के लिए कश्मीर से आकर इसके आसपास बस गए।

राजौरी के प्राचीन निवासी जम्मू और मीरपुर के निवासियों की तरह भाषा और रहन-सहन में पंजाब के अधिक निकट थे। उनमें से बहुत-से क्षत्रिय थे जो अपने रण-कौशल और शौर्य के लिए विख्यात थे। लक्ष्मणदेव, जो बाद में इतिहास-प्रसिद्ध बंदा बैरागी बने, नानदेड़ में गुरु गोविन्दसिंह जी से प्रेरणा लेकर पंजाब लौटे और सात शताब्दियों के बाद पंजाब से मुस्लिम सत्ता समाप्त करके महाराजा रणजीतसिंह के हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया, इसी राजौरी के एक क्षत्रिय परिवार में जन्मे।

इस क्षेत्र में इस्लाम का प्रचार-प्रसार मुख्यतः जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब ने किया। यहाँ के प्रमुख लोग मुसलमान पठान स्त्रियों के साथ विवाह करते थे क्योंकि वे बहुत सुन्दर होती थीं। जब जहाँगीर को, जो बार-बार इस रास्ते से कश्मीर जाता था, इस बात का पता लगा तो उसने आदेश दिया कि वे सब हिन्दू, जिन्होंने मुसलमान स्त्रियों से विवाह किया हुआ है, या तो मुसलमान बन जाएँ, या उन्हें तलवार के घाट उतार दिया जाएगा। इस्लाम के अनुसार किसी मुसलमान स्त्री के ग़ैर-मुस्लिम के साथ विवाह का निषेध है और इसका उल्लंघन करने वाले के लिए मृत्युदंड का विधान है। इस कारण इस क्षेत्र के बहुत-से प्रमुख परिवार मुसलमान बन गए और यह क्षेत्र मुस्लिम-बहुल क्षेत्र बन गया।

महाराजा गुलाबसिंह ने इस क्षेत्र को विजय करके अपने जम्मू राज्य में शामिल कर लिया। बाद में इसे रियासी ज़िले की एक तहसील बना दिया गया।

कश्मीर की घाटी को जाने वाले परम्परागत रास्ते पर स्थित होने के कारण राजौरी एक अच्छा व्यापारिक केन्द्र था। कश्मीर और पंचाल पर्वत

की तलहटी पर पैदा होने वाले ऊन, घी, गुच्छियाँ तथा फलों की यहाँ बड़ी मण्डी थी। इनके बदले में पहाड़ी क्षेत्र में बसे लोग यहाँ से कपड़ा, नमक, चाय, साबुन इत्यादि खरीदते थे। राजौरी से कुछ मील आगे इसी रास्ते पर थन्ना नाम का कस्बा था। यह भी एक बड़ी व्यापारिक मण्डी था। इस कारण इन नगरों तथा आसपास के ग्रामों में बसे हुए हिन्दू खूब समृद्ध थे। उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा और रंग गोरा था। उनकी महिलाएँ विशेष रूप में रूपवती मानी जाती थीं।

जब कश्मीर घाटी पर पाकिस्तान ने आक्रमण किया तब कुछ सैनिक उड़ी से पंचाल पर्वत पर चढ़ गए और हाजीपीर तथा गुलमर्ग होते हुए बनिहाल की सुरंग, जिसमें से होकर जम्मू-श्रीनगर सड़क गुज़रती है, की ओर बढ़ने लगे। उनकी योजना जम्मू-श्रीनगर सड़क को बन्द करने की थी ताकि कश्मीर में सैनिक सहायता न पहुँच सके। यह मार्ग पंचाल पर्वत-शृंखला के उच्चतम भाग के साथ-साथ चलता था, जिसमें गुलमर्ग और नन्दीमर्ग जैसे कई बड़े मैदान भी पड़ते हैं। घाटी से आक्रान्ताओं के खदेड़े जाने और उड़ी पर भी भारतीय सेना का अधिकार हो जाने से उनके लिए उड़ी के रास्ते वापस जाना कठिन हो गया। बनिहाल सुरंग की सुरक्षा का भी कड़ा प्रबन्ध कर दिया गया था। इसलिए उनमें से कुछ गुलमर्ग से पुँछ की ओर उतरने लगे और कुछ नन्दीमर्ग से राजौरी की ओर। वे सशस्त्र तो थे ही, रास्ते में उन्होंने स्थानीय मुसलमानों की सहायता भी प्राप्त की। इस प्रकार राजौरी पर उत्तर से संकट आ गया। पहले उन्होंने थन्ना की मण्डी को लूटा और जलाया। वहाँ से बहुत-से हिन्दू पहले ही राजौरी नगर में चले गए थे। थन्ना से वे राजौरी की ओर बढ़ने लगे।

राजौरी के आसपास के मुसलमान भी पाकिस्तानी प्रचार और लूटमार के लालच में राजौरी को घेरने की योजना बना रहे थे। नन्दीमर्ग से सशस्त्र पाकिस्तानियों के आने से उनके हौसले और बढ़ गए। इस प्रकार राजौरी का यह प्राचीन नगर पाकिस्तानियों और उनके स्थानीय सहायकों के घेरे में आ गया।

राजौरी में उस समय ७-८ हज़ार के लगभग हिन्दू थे। वहाँ संघ की अच्छी शाखा थी और निष्ठावान् स्वयंसेवकों की एक अच्छी टोली थी। एक

छोटा-सा पुलिस का दल भी वहाँ था परन्तु वहाँ सेना नाममात्र को थी। पाकिस्तान की सीमा से दूर होने के कारण उस पर सीधे पाकिस्तान की ओर से खतरे की सम्भावना कम थी। कश्मीर की घाटी की ओर से पाकिस्तानी आक्रान्ता वहाँ आ धमकेंगे इसकी कल्पना स्थानीय लोगों ने नहीं की थी।

ज्यों-ज्यों शहर का घेरा छोटा होने लगा और पाकिस्तानियों की गोलियाँ नगर में चोट करने लगीं, त्यों-त्यों लोगों में घबराहट बढ़ने लगी। उन्होंने जम्मू से सम्पर्क कर वहाँ से सहायता माँगवाने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु शेख अब्दुल्ला के रवैये और यातायात तथा संचार-साधनों के अभाव में किसी प्रकार की सहायता न पहुँच सकी।

जब राजौरी के लोगों को यह स्पष्ट हो गया कि बाहर से सहायता नहीं आएगी और वे बढ़ते हुए पाकिस्तानी दबाव का मुकाबला नहीं कर सकते तो उन्होंने जौहर का रास्ता अपनाया। नगर की सैकड़ों युवा स्त्रियाँ तहसील की इमारत में स्थित एक चबूतरे पर इकट्ठी हुईं। वहाँ उन्होंने प्रभु का नाम लेकर विषपान किया और उसी चबूतरे पर चिरनिद्रा में लीन हो गईं।

उनके जौहर के बाद नगर के युवकों को जो हथियार मिले, उन्हें लेकर पाकिस्तानी आततायियों के साथ जूझ गए और लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए।

शेष बाल-वृद्ध पुरुष और स्त्रियों में से कुछ पाकिस्तानियों की तलवार का शिकार बने और कुछ ने भागकर अपनी जान बचाई। उनमें से कुछ पुँछ पहुँच गए और कुछ पहाड़ी रास्ते से रियासी की ओर निकल गए।

लगभग एक महीने के बाद पुँछ की ओर बढ़ती हुई भारतीय सेना ने इस नगर में प्रवेश किया। तब तक सारा नगर खण्डहर बन चुका था। तहसील के चबूतरे पर उन सैकड़ों सतियों के सड़े-गले शव पड़े हुए थे और नगर के बाहर एक बड़े टीले के रूप में सैकड़ों पंजर इकट्ठे पड़े थे। लगता था कि जैसे चौदहवीं शताब्दी में तैमूर ने दिल्ली के बाहर शवों की पहाड़ी-सी बना दी थी उसी प्रकार राजौरी के देशभक्तों को मार-मारकर मतान्ध पाकिस्तानियों और स्थानीय मुसलमानों ने उनकी लाशों का टीला बना दिया था।

राजौरी पर पुनः अधिकार हो जाने के बाद इधर-उधर भागे हुए लोग फिर इसमें वापस आने लगे और इसमें जीवन का पुनः संचार हुआ ।

इस घटना के आठ वर्ष बाद मैं इस क्षेत्र में गया और राजौरी की तहसील की इमारत में स्थित उस चबूतरे के दर्शन किए जहाँ पर राजौरी की वीर नारियों ने ५०० वर्ष पूर्व चित्तौड़ में हुए जौहर की याद ताज़ा की थी । मैंने उस चबूतरे की मिट्टी से तिलक लगाया और उन सतियों को प्रणाम किया ।

वहाँ इकट्ठे हुए लोगों ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं राज्य सरकार और भारत सरकार से आग्रह करूँ कि उन स्थानों पर वीर महिलाओं का कोई स्मारक निर्माण किया जाय । दिल्ली लौटने पर मैंने भारत सरकार का ध्यान इस ओर खींचा भी परन्तु भारत की तथाकथित 'सैक्यूलर सरकार' इन वीरांगनाओं की याद में स्मारक बनाना अपने सैक्यूलरिज़्म के लिए खतरा समझती है । इसलिए इससे कुछ अपेक्षा करना व्यर्थ था । जम्मू-कश्मीर सरकार की स्थिति इससे भी गई-गुज़री थी । इसलिए मुझे नहीं लगता कि वहाँ कोई स्मारक बना होगा । दुर्भाग्य से मैं भी उसके बाद वहाँ नहीं जा सका ।

दिल्ली में मुख्यतः पाकिस्तान से आए लोगों द्वारा बसाए गए एक मुहल्ले का नाम राजौरी गार्डन है परन्तु इसमें रहने वाले हज़ारों लोगों में से बहुत कम ऐसे हैं जिन्हें इस नाम के साथ जुड़े हुए उक्त प्राचीन नगर और उसमें हुए महान् बलिदान का कुछ भी ज्ञान है ।

राजौरी के इन बलिदानी स्त्री-पुरुषों के लिए ईंट-मिट्टी का कोई स्मारक बने या न बने परन्तु वे अमर हैं और अमर रहेंगे और उनकी पवित्र याद भारत की राष्ट्रवादी जनता का खून युगों-युगों तक गरमाती रहेगी । सन्तोष की बात यह है कि यह नगर अभी भारत के पास है । परन्तु क्या भारत सरकार द्वारा अपनाई गई पाकिस्तान के प्रति नीति और कश्मीर घाटी के लिए जम्मू क्षेत्र का सौदा करने की इसकी मनोवृत्ति इस बलिदानी नगर को भारत के पास रहने देगी, यह एक ऐसा खुला प्रश्न है जिसका निश्चित उत्तर देना अभी भी सम्भव नहीं है ।

पुँछ की सुरक्षा

पंचाल पर्वतशृंखला, जो कश्मीर घाटी को जम्मू से अलग करती है, किश्तवाड़ के पास सिंथन दर्रे से लेकर बनिहाल और नन्दीमर्ग से होती हुई गुलमर्ग और उसके आगे हाजीपीर के दर्रे तक जाती है। उसके बाद जहमान नदी आती है जो इस पर्वतशृंखला को काटकर कश्मीर घाटी का जल पंजाब की ओर ले जाती है। उड़ी इसी नदी के तट पर घाटी के अन्तिम स्थान बारामूला से लगभग तीस मील पर स्थित है। यहाँ से इस पर्वत का पश्चिमी भाग सीधा ऊपर उठता है और घाटी का पूरा चक्कर लगाकर फिर इसी नदी के दूसरे तट तक आ पहुँचता है।

इस पर्वत की कश्मीर घाटी की ओर ढलवान पर गुलमर्ग और नन्दीमर्ग जैसे सब्जा ज़ार (घास के मैदान) हैं जो पर्यटकों के आकर्षण का विशेष केन्द्र हैं। इस पर्वत की जम्मू की ओर की तलहटी पर अनेक सुन्दर स्थान और छोटी-छोटी घाटियाँ हैं। बनिहाल नगर और राजौरी ऐसी घाटियों में ही बसे हुए हैं परन्तु इनमें सबसे सुन्दर और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण पुँछ नदी की घाटी है जिसमें पुँछ नदी के तट पर पुँछ नगर बसा हुआ है। पुँछ नदी आगे जाकर जेहलम नदी के साथ मिल जाती है।

पुँछ नगर समुद्र की सतह से लगभग चार हजार फुट ऊँचा है और गुलमर्ग के बिल्कुल पीछे है। यदि गुलमर्ग से आगे बढ़कर पंचाल पर्वत को पार करके दूसरी ओर सीधा नीचे उतरा जाय तो पुँछ पहुँचा जा सकता है। रावलपिंडी पुँछ से चालीस मील के लगभग है परन्तु यहाँ से रावलपिंडी जाने के लिए जेहलम नदी को पार करना पड़ता है जिस पर १९४७ तक कोई पुल नहीं था। एक पक्की सड़क के द्वारा यह उड़ी से जुड़ा हुआ था। एक अन्य सड़क इसे राजौरी और कोटली से जोड़ती थी।

पुँछ नगर पुँछ जागीर की राजधानी था। यह महाराजा गुलाबसिंह के छोटे भाई और महाराजा रणजीतसिंह के प्रधानमन्त्री राजा ध्यानसिंह की जागीर थी। क्षेत्रफल और आमदनी में यह भारत की सैकड़ों देशी रियासतों से बड़ी थी; परन्तु इसे अलग रियासत का दर्जा प्राप्त नहीं था। यह जम्मू-कश्मीर राज्य के अन्तर्गत ही आती थी।

पुँछ के राजाओं ने इस नगर का बहुत विकास किया था। उनके राज-महल के अतिरिक्त इसमें कई अन्य भव्य इमारतें थीं और एक बड़ा शाही उद्यान था जिसे हज़ूरीबाग कहा जाता था। नगर ढलवान पर बसा हुआ है। बाग, पलन्दरी, रावलाकोट इत्यादि इस जागीर के, जो अब रियासत का एक ज़िला बन गई है, के अन्य प्रमुख प्रशासनिक और व्यापारिक केन्द्र थे।

अक्तूबर, १९४७ में उड़ी के रास्ते कश्मीर घाटी पर आक्रमण के समय उड़ी और इसके निकटवर्ती क्षेत्रों के अधिकतर हिन्दुओं तथा पुँछ जागीर के अन्य नगरों और राजौरी तथा कोटली के कुछ लोगों ने भी इसी नगर में शरण ली थी। फलस्वरूप इसकी जनसंख्या भी बीस हज़ार के निकट पहुँच गई थी।

पुँछ क्षेत्र के लोग भी अधिकतर सूदन राजपूत हैं। शताब्दियों पहले उन्हें भी बलात् मुसलमान बना लिया गया था। वे अच्छे सिपाही बनते हैं, इसलिए उस समय की भारतीय सेना में उनकी बड़ी संख्या थी। विभाजन के बाद वे सब पाकिस्तान की सेना के अंग बन गए।

पाकिस्तान के सैनिक अधिकारी इस क्षेत्र और विशेषकर पुँछ नगर के सामरिक महत्त्व को भली-भाँति जानते थे। रावलपिंडी और इसकी बनाई गई पाकिस्तान की नई राजधानी इस्लामाबाद भारत की इस सीमा के बिल्कुल निकट पड़ती है। इसलिए कश्मीर घाटी की तरह शुरु से ही पाकिस्तान की इस क्षेत्र पर भी नज़र थी। कश्मीर पर आक्रमण के साथ ही रावलपिंडी की ओर से पुँछ में भी पाकिस्तानी सेना के पुँछी सैनिक घुसा दिए गए। वे इस क्षेत्र के इंच-इंच से वाकिफ़ थे। उड़ी पर अधिकार कर लेने के बाद पाकिस्तानी सेना की एक टुकड़ी इधर से भी पुँछ की ओर बढ़ने लगी।

बाग, पलन्दरी आदि पुँछ राज्य का बड़ा भाग शीघ्र ही पाकिस्तानियों के हाथ में आ गए परन्तु वे पुँछ नगर को नहीं ले पाए। इस नगर में रियासती सेना की एक अच्छी टुकड़ी थी। उसने नगर की मोर्चाबन्दी कर रखी थी। पहाड़ की ढलवान पर बसे होने और पहाड़ के पार कश्मीर घाटी पर भारतीय सेना का अधिकार हो जाने तथा नगर के दूसरी ओर नदी होने के कारण नगर की सुरक्षा का काम कुछ आसान भी था। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा इस नगर पर भी पाकिस्तानियों का दबाव बढ़ने लगा। उन्होंने पुँछ नदी के उस पार और नगर की निकटवर्ती पहाड़ियों पर अपने मोर्चे बना लिए और उनकी तोपों के गोले पुँछ नगर के अन्दर पड़ने लगे।

इस बीच भारतीय सेना की एक टुकड़ी राजौरी होती हुई पुँछ पहुँच गई और उसने इसकी सुरक्षा का भार सँभाल लिया। घिरी हुई जनता ने भी इस काम में उसका पूरा-पूरा हाथ बँटाया।

परन्तु थोड़े ही दिनों में यह स्पष्ट हो गया कि पाकिस्तानी आक्रान्ता, जिनके आपूर्ति केन्द्र निकट थे और जिन्हें आसानी से गोला-बारूद पहुँचाया जा सकता था, नगर के सुरक्षा मोर्चों को तहस-नहस कर देंगे। उनकी ओर से दिन-रात बड़ी तोपों से गोलाबारी होती रहती थी।

पुँछ में घिरी भारतीय सेना के सामने सबसे बड़ी समस्या गोला-बारूद की थी। सैनिकों की कमी को तो स्थानीय युवकों को प्रशिक्षण देकर पूरा किया जा रहा था परन्तु संचार और यातायात के साधनों के अभाव के कारण उसके पास आवश्यक गोला-बारूद नहीं पहुँच पा रहा था।

यातायात की दृष्टि से पुँछ पहुँचने का सबसे आसान रास्ता उड़ी से था। इसलिए उड़ी पर भारतीय सेना का अधिकार हो जाने से पुँछ के बचाव की आशा पैदा हो गई। भारतीय सेना की एक टुकड़ी गोला-बारूद लेकर उड़ी की ओर से पुँछ की ओर बढ़ी भी। परन्तु पुँछ में घिरी सेना को उसका कुछ पता नहीं था। जब उसे पता लगा कि उड़ी की ओर से एक सेना पुँछ की ओर बढ़ रही है तो इसने समझा कि यह पाकिस्तानी सेना होगी क्योंकि इसे उड़ी पर भारतीय सेना का अधिकार हो जाने का पता नहीं था। इस सेना को, जो वास्तव में भारत की सेना थी, पुँछ की ओर बढ़ने से रोकने के लिए पुँछ की भारतीय सेना ने पँछ-उड़ी सड़क पर बने

एक सामरिक महत्त्व के पुल को बारूद से उड़ा दिया। फलस्वरूप भारतीय सेना आगे बढ़कर पुँछ में दाखिल न हो सकी। उसे रास्ते से ही वापस लौटना पड़ा। जब बाद में पुँछ में घिरे लोगों और सेना को अपनी भूल का पता लगा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। इस बीच पाकिस्तानी सेना ने उड़ी और पुँछ के बीच के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। इस भूल के कारण सड़क के रास्ते गोला-बारूद पुँछ तक पहुँचने की सम्भावना खत्म हो गई।

वायु के रास्ते गोला-बारूद पहुँचाया जा सकता था परन्तु उसके लिए सैनिक विमानों के उतरने के लिए हवाई पट्टी की आवश्यकता थी। पुँछ के पास ऐसा कोई समतल मैदान नहीं था जिसका प्रयोग हवाई अड्डे के रूप में किया जा सकता। हजूरिबाग काफ़ी बड़ा और समतल था। इसमें विमान उतर सकते थे परन्तु इसमें अनेक फलदार और अन्य पेड़ लगे हुए थे। जब और कोई रास्ता न बचा तो पुँछ के रक्षकों ने इसी बाग को हवाई पट्टी में बदलने का निश्चय किया। सारे युवक कुल्हाड़ियाँ लेकर पेड़ काटने में लग पड़े और थोड़े ही दिनों में सारे बाग को एक खुले मैदान में बदल दिया गया।

फिर प्रश्न यह आया कि इस छोटी-सी हवाई पट्टी पर, जो पाकिस्तानी तोपों की जद में पड़ती थी, विमान कौन उतारे। इसके लिए बड़ी कुशलता और शौर्य की आवश्यकता थी। इस काम में पहल भारतीय वायुसेना के विख्यात हवाबाज़ मेहरसिंह ने की। उन्होंने भारतीय सेना का एक डेकोटा इस कामचलाऊ हवाई पट्टी पर उतारने में सफलता पाई। इसके बाद एक के बाद एक भारतीय विमान गोला-बारूद लेकर इस पट्टी पर उतरने लगे। इस प्रकार पुँछ के संरक्षकों की गोला-बारूद की समस्या हल हो गई।

इसका पुँछ में घिरी हिन्दू जनता और सैनिकों के मनोबल पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा। उनका आत्मविश्वास बढ़ गया और उन्होंने अन्तिम क्षण तक शत्रु का मुकाबला करने का निश्चय कर लिया।

पुँछ नगर का घेरा कई मास तक चला। अन्ततोगत्वा पाकिस्तानियों को वह घेरा उठाना पड़ा और पुँछ बच गया।

यदि युद्ध कुछ और समय तक चलने दिया गया होता तो निश्चय ही भारतीय सेना पुँछ और उड़ी को मिलाने वाली सड़क पर भी अधिकार

करके उड़ी और पुँछ को मिला देती। इस सूरत में रियासत में भारतीय सेना की स्थिति और अच्छी हो जाती और पाकिस्तान को मीरपुर तक का सारा क्षेत्र खाली करना पड़ जाता, परन्तु राजनैतिक नेतृत्व की भूलों के कारण ऐसा न हो सका।

अब पुँछ जम्मू के साथ नौशहरा और राजौरी के रास्ते पक्की सड़क से जोड़ दिया गया है। उसकी पुरानी रौनक फिर वापस आ गई है। यहाँ के लोग इस नगर के उन वीर रक्षकों को, जिन्होंने कई महीने के पाकिस्तानी घेरे और लगातार गोलाबारी के बावजूद इस नगर को पाकिस्तानियों के हाथ में नहीं पड़ने दिया और इसे मीरपुर और राजौरी जैसे काण्ड की पुनरावृत्ति से बचा लिया, आज भी आदर से याद करते हैं।

कश्मीर घाटी के हाल के घटनाचक्र का पुँछ पर भी प्रभाव पड़ा है। पाकिस्तानी एजेण्ट इस नगर में भी सक्रिय हो गए हैं। यहाँ के भी अनेक मुस्लिम युवक सैनिक प्रशिक्षण के लिए पाकिस्तान गए हैं। इसलिए यदि कश्मीर घाटी में पाकिस्तानी तत्त्वों के साथ सख्ती से न निपटा गया तो घाटी के साथ-साथ पुँछ पुनः खतरे में पड़ जाएगा।

गिलगित और बलितस्तान का पतन

कश्मीर घाटी और जम्मू प्रदेश के मुस्लिम-बहुल पश्चिमी भाग और पुँछ पर हमले के साथ-साथ पाकिस्तान ने जम्मू-कश्मीर राज्य के उत्तरी भाग—गिलगित, बलितस्तान और लद्दाख—को हस्तगत करने के लिए भी पग उठाए। इनमें गिलगित और बलितस्तान क्षेत्र मुस्लिम-बहुल थे और उनके पूर्व में स्थित लद्दाख क्षेत्र बौद्ध-बहुल क्षेत्र था।

इन तीनों में से भौगोलिक दृष्टि से पाकिस्तान के सबसे अधिक निकट और सामरिक तथा राजनैतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण गिलगित क्षेत्र है। इस क्षेत्र को गिलगित नाम इसी नाम की नदी के कारण दिया गया है। यह नदी उत्तर से आकर सिन्धु नदी में गिरती है। इस नदी की घाटी में ही गिलगित नाम का नगर है जो इस क्षेत्र का प्रशासनिक केन्द्र और सैनिक छावनी था। गिलगित की घाटी के अतिरिक्त इस क्षेत्र में हुन्ज़ा, नगगर, इशकुमान, पुनयाल नाम के छोटे-छोटे राज्य भी शामिल हैं। इस सारे क्षेत्र का क्षेत्रफल लगभग १६,००० वर्गमील और जनसंख्या लगभग दो लाख है। ये लोग आग्राखानी मुसलमान हैं। इस्लाम के फैलने से पहले यह क्षेत्र बौद्धमत और हिन्दू संस्कृति का केन्द्र था। इसके अनेक ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं।

भौगोलिक दृष्टि से यह क्षेत्र उत्तर में चीनी तुर्किस्तान के यारकन्द और काशगर राज्यों, जिन्हें चीनियों ने हस्तगत करके सिंक्रियांग नाम दे रखा है, से मिलता है। इसके उत्तर-पश्चिम में पामीर पर्वत है जिसके साथ सोवियत रूस की सीमा मिलती है। अफ़गानिस्तान की सीमा भी उसके साथ मिलती है और पाकिस्तान की भी। चित्ताराल राज्य, जो अब पाकिस्तान का अंग है, इस क्षेत्र के साथ लगा हुआ है। उसका शासक महत्तर कहलाता था। इस

क्षेत्र में संस्कृत भाषा के प्रभाव का यह स्पष्ट प्रमाण है। चितराल का महत्तर भी जम्मू-कश्मीर के महाराजा के अधीन था और उसे खिराज देता था। इस क्षेत्र की इस भौगोलिक स्थिति के कारण ही इसे 'तीन साम्राज्यों का मिलन-स्थल' कहा जाता था। ये थे रूसी साम्राज्य, चीनी साम्राज्य और ब्रिटिश साम्राज्य।

इस क्षेत्र को महाराजा रणजीतसिंह के राज्य में मिलाने का पहला प्रयत्न उनके एक सैनिक अधिकारी कर्नल नत्थेशाह ने किया था। कश्मीर घाटी महाराजा गुलाबसिंह के पास आ जाने के बाद उसने अपनी सेवाएँ महाराजा गुलाबसिंह को अर्पित कर दीं। कश्मीर घाटी में अपनी स्थिति ठीक कर लेने के बाद महाराजा गुलाबसिंह ने गिलगित की विजय का सफल प्रयत्न किया। परन्तु कुछ ही वर्षों में गिलगित के राजाओं ने मिलकर डोगरा सेना का सफाया कर दिया। इस समाचार से महाराजा गुलाबसिंह, जिन्होंने अपने जीवनकाल में ही अपने ज्येष्ठ पुत्र रणवीरसिंह को सिंहासन पर बैठा दिया था और स्वयं कश्मीर के गवर्नर के रूप में काम कर रहे थे, को गहरा धक्का लगा और कुछ देर बाद उनका निधन हो गया।

गुलाबसिंह के उत्तराधिकारी महाराजा रणवीरसिंह ने गिलगित को फिर विजय करने के लिए एक भारी डोगरा सेना जुटाई। कहा जाता है कि जम्मू के हर राजपूत परिवार से एक-एक स्वयंसेवक इस सेना के लिए देने का आह्वान किया गया था। इस डोगरा सेना ने अपने मारे गए साथियों का पूरा बदला लिया और सारे गिलगित क्षेत्र के राजाओं को पराजित करके वहाँ फिर जम्मू-कश्मीर राज्य का सूर्यमुखी लाल और केसरी झण्डा फहरा दिया। रूसी साम्राज्य के मध्य एशिया में लगातार बढ़ने के कारण ब्रिटिश शासकों को अपने भारतीय साम्राज्य के विषय में चिन्ता होने लगी। उन्होंने प्रयत्न किया कि महाराजा रणवीरसिंह गिलगित क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार को अपनी सेना और अपना पोलिटिकल एजेण्ट रखने की अनुमति दे दें परन्तु रणवीरसिंह ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। रणवीरसिंह के उत्तराधिकारी प्रतापसिंह ने उन्हें गिलगित में अपना पोलिटिकल एजेण्ट रखने की अनुमति दे दी। परन्तु प्रशासनिक दृष्टि से यह क्षेत्र जम्मू-कश्मीर राज्य का अंग बना रहा। १९१७ की सफल क्रान्ति के बाद सारे रूस पर

कम्युनिस्टों की सत्ता स्थापित हो जाने से ब्रिटिश सरकार की गिलगित में रुचि और इसे सीधे अपने अधिकार में लाने की इच्छा अधिक बलवती हो गई। उसने प्रतापसिंह के उत्तराधिकारी महाराजा हरिसिंह से गिलगित क्षेत्र का प्रशासन ब्रिटिश सरकार को सौंप देने के लिए आग्रह किया। महाराजा हरिसिंह ने इसे स्वीकार नहीं किया। परन्तु सन् १९३०-३१ में ब्रिटिश समर्थित शेख अब्दुल्ला के आन्दोलन के फलस्वरूप हरिसिंह की स्थिति पतली हो गई और उसने १९३५ में गिलगित क्षेत्र साठ वर्ष के लिए ब्रिटिश सरकार को लीज पर दे दिया। इस समझौते के अनुसार गिलगित क्षेत्र पर झंडा जम्मू-कश्मीर का ही फहराता था और वहाँ के राजा जम्मू दरबार के अधीन माने जाते थे परन्तु क्षेत्र का प्रशासन ब्रिटिश सरकार के पोलिटिकल एजेण्ट को सौंप दिया गया और वहाँ रियासत की सेना के स्थान पर ब्रिटिश सेना रहने लगी।

जब अंग्रेजों ने भारत छोड़ने का फ़ैसला किया तो गिलगित का प्रशासन पुनः जम्मू-कश्मीर राज्य के पास आ गया। महाराजा हरिसिंह ने ब्रिगेडियर घनसारासिंह को गिलगित का सैनिक गवर्नर नियुक्त किया और राज्य की सेना की एक पल्टन गिलगित भेज दी गई।

भारत-विभाजन का फ़ैसला करते समय ब्रिटिश सरकार चाहती थी कि जम्मू-कश्मीर राज्य सारे का सारा या कम-से-कम इसका उत्तरी और पश्चिमी मार्ग पाकिस्तान में शामिल हो। वे समझते थे कि पाकिस्तान उनके प्रभाव-क्षेत्र में रहेगा इसलिए गिलगित आदि सामरिक महत्व के क्षेत्रों के पाकिस्तान के अन्तर्गत आ जाने से इस क्षेत्र में उनके साम्राज्यवादी हितों की रक्षा बेहतर हो सकेगी। इसलिए उन्होंने विभाजन से पहले ही गिलगित के राजाओं से महाराजा हरिसिंह पर दबाव डलवाया था कि वह अपनी रियासत को पाकिस्तान में शामिल कर दे।

अपने प्रशासनकाल में ब्रिटिश प्रशासकों ने गिलगित में ब्रिटिश सेना के अतिरिक्त एक अर्द्धसैनिक संगठन—गिलगित स्काउट्स—भी बनाया था। इसमें केवल गिलगिती भरती किए जाते थे। भारत-विभाजन के समय इसके अंग्रेज कमाण्डर का नाम मेजर ब्राउन था। गिलगित जम्मू-कश्मीर राज्य को वापस मिल जाने के बाद भी यह संगठन बना रहा। परन्तु अब यह

कश्मीर दरबार के गवर्नर के अधीन समझा जाने लगा ।

जब पाकिस्तान ने अक्टूबर मास में कश्मीर घाटी पर आक्रमण शुरू किया, उसी समय मेजर ब्राउन ने गिलगित स्काउट्स के शिविर में पाकिस्तान का झण्डा फहरा दिया । यह विद्रोह का संकेत था । रियासती सेना की पलटन में भी आधे मुसलमान थे । उन्होंने भी यह संकेत मिलते ही विद्रोह कर दिया । इन गद्दार सैनिकों ने गिलगित स्काउट्स के साथ मिलकर अपने सैनिक गवर्नर के मकान को घेर लिया और उसे आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया । इस प्रकार गिलगित में नियुक्त हिन्दू सेना, ब्रिगेडियर घनसारासिंह समेत बन्दी बना ली गई और गिलगित क्षेत्र पर पाकिस्तान का अधिकार हो गया । इस क्षेत्र में रहने वाले हिन्दू व्यापारी और कर्मचारी जान से मार दिये गए । गिलगित से आगे बढ़कर इन विद्रोहियों ने बुरजल दर्रे पर भी, जो गिलगित को कश्मीर घाटी से जोड़ने वाला एकमात्र दर्रा है, अधिकार कर लिया । वैसे भी यह दर्रा शीतकाल में चार-पाँच महीनों के लिए हिमाच्छादित हो जाता है और इसमें से किसी प्रकार का यातायात नहीं हो सकता । इस कारण भारतीय सेना के लिए उस समय गिलगित में जाना सम्भव नहीं था ।

गिलगित का पतन भारत के लिए एक गहरा आघात था । पाकिस्तान का गिलगित पर अधिकार हो जाने के कारण इसका सीधा सम्बन्ध चीन के साथ कायम होने का रास्ता खुल गया । पाकिस्तान के पख्तूनस्तान और चितराल क्षेत्र तथा अफगानिस्तान के भी भारत के साथ गिलगित के रास्ते सीधे सम्बन्ध की सम्भावना खत्म हो गई । इसी प्रकार सोवियत रूस का भी भारत के साथ सीधे सम्बन्ध का रास्ता बन्द हो गया ।

गिलगित के कारण पाकिस्तान का सामरिक महत्त्व ब्रिटेन और अमरीका के लिए बहुत बढ़ गया । अमरीका उस समय कम्युनिस्ट रूसी साम्राज्यवाद के फैलाव को रोकने के लिए सोवियत रूस की सीमाओं के निकट अपने अड़्डे कायम करने का प्रयत्न कर रहा था । गिलगित उसके लिए बड़ा उपयुक्त क्षेत्र था । इसलिए गिलगित का पाकिस्तान के हाथ में होना पाकिस्तान को अमरीका का समर्थन मिलने का एक बड़ा कारण बन गया ।

गिलगित में अपने पाँव जमाने के बाद पाकिस्तानी और रियासती सेना के विद्रोही सैनिक पूर्व में बलितस्तान की ओर बढ़ने लगे।

बलितस्तान कश्मीर की घाटी के उत्तर में गिलगित और लद्दाख के बीच स्थित था। १६वीं शताब्दी तक यह लद्दाख राज्य का ही अंग था और यहाँ के लोग भी बौद्ध थे। बाद में यह मुसलमानों के अधिकार में आ गया और इसके राजा और जनता मुसलमान बना दिये गए।

इस क्षेत्र की राजधानी और प्रमुख नगर अस्कई है। यह सिन्धु नदी के तट पर स्थित है और समुद्र की सतह से लगभग ७,००० फुट ऊँचा है। प्रशासनिक दृष्टि से बलितस्तान लद्दाख प्रान्त का अंग था। लद्दाख का प्रशासक गर्मियों में लेह और शीतकाल में अस्कई में रहा करता था। यह नगर मेरा जन्मस्थान है।

बलितस्तान क्षेत्र का क्षेत्रफल लगभग १४,००० वर्गमील है और उस समय इसकी जनसंख्या दो लाख के लगभग थी। इसमें मुट्ठी-भर हिन्दू थे जो मुख्यतः अस्कई में ही रहते थे। इस स्थान और इसके इर्द-गिर्द की घाटी में फल खूब होते थे। अस्कई में सिंधु नदी के तीर पर एक किला भी था जिसमें रियासती सेना की एक टुकड़ी रहती थी।

बलितस्तान और लद्दाख की घाटी से जोड़ने वाला योजिला दर्रा भी शीतकाल के कारण बन्द हो चुका था। इसलिए कश्मीर की ओर से वहाँ किसी प्रकार की सैनिक सहायता पहुँचने की सम्भावना खत्म हो चुकी थी।

अस्कई की सैनिक टुकड़ी ने नगर के हिन्दुओं और सरकारी कर्म-चारियों को किले में शरण दी और कई महीनों तक उसके भीतर से पाकिस्तानी आक्रान्ताओं का मुकाबला किया। परन्तु जब उनकी रसद और गोला-बारूद खत्म हो गए तब उन्हें आत्म-समर्पण करना पड़ा। फलस्वरूप बहुत-से हिन्दू सैनिक और अन्य लोग मारे गए और कुछ युद्धबन्दी बना लिये गए।

इस प्रकार बलितस्तान का भी लगभग सारा क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में आ गया।

बलितस्तान से पाकिस्तानी आक्रान्ता लद्दाख की ओर बढ़ने लगे। रास्ते में उन्होंने अनेक बौद्ध ग्राम और बौद्ध गोम्पे (मन्दिर) लूटे और अनेक बौद्ध

स्त्री-पुरुषों को मौत के घाट उतारा। परन्तु वे लद्दाख की राजधानी लेह को न ले सके।

लेह को बचाने का श्रेय भारतीय सेना के लाहौल-निवासी सैनिक अधिकारी कैप्टेन पृथ्वीचंद और उसके कुछ लाहौली साथियों को जाता है। वे उस क्षेत्र से परिचित थे और उस क्षेत्र की सर्दियों को सहन करने के अभ्यस्त थे। वे लाहौल के रास्ते से पैदल लेह जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने लद्दाखी युवकों को संगठित और प्रशिक्षित करके 'लद्दाख स्काउट' नाम से अर्धसैनिक दल गठित किया और लेह के निकट एक छोटी-सी हवाई पट्टी का भी निर्माण किया। भारतीय सेना के विख्यात विमानचालक मेहरसिंह ने इस हवाई अड्डे पर भी सर्वप्रथम विमान उतारकर वहाँ पर विमानों द्वारा सहायता और सैनिक पहुँचाने का रास्ता साफ़ कर दिया। फलस्वरूप लेह और लद्दाख का बहुत-सा भाग पाकिस्तान के हाथों में पड़ने से बचा लिया गया।

शेख अब्दुल्ला का भीतरघात

जिस समय रियासत की सेना और भारत से आई सेना जम्मू के पश्चिमी भाग और हिमालय के उस पार स्थित गिलगित, बलितस्तान और लद्दाख क्षेत्रों में पाकिस्तानी आक्रान्ताओं और स्थानीय गद्दारों के साथ जूझ रही थी और असंख्य हिन्दू अपने ही देश में केवल हिन्दू होने के कारण मारे जा रहे थे, शेख अब्दुल्ला जो भारतीय सेना के कन्धों पर सवार होकर कश्मीर आया था और जिसे महाराजा हरिसिंह ने पं० नेहरू के दबाव पर सत्ता सौंपी थी, राष्ट्र के हितों की अन्दर से काट कर रहा था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है वह पहले मुसलमान और फिर कश्मीरी था। शेष भारत के साथ उसका कोई लगाव नहीं था। उसे अनपेक्षित रूप से कश्मीर घाटी के साथ-साथ जम्मू तथा रियासत के अन्य भागों पर भी अधिकार मिल गया था। उसके मुख्य सलाहकार कम्युनिस्ट थे जो कश्मीर को एक स्वतन्त्र राज्य बनाकर इसे शेष भारत में कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ़ाने के लिए अपना सुरक्षित अड्डा बनाना चाहते थे।

कश्मीर घाटी में अपने पाँव जमाने में शेख अब्दुल्ला को कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। कश्मीरी मुसलमानों ने, जो भारत की सेना के कश्मीर पहुँचने से पूर्व पाक आक्रान्ताओं का स्वागत कर रहे थे, तुरन्त अपना रंग बदल लिया। मुस्लिम कॉन्फ्रेंस और पाकिस्तान के कुछ कट्टर समर्थक पाकिस्तान चले गए और शेष शेख अब्दुल्ला की नेशनल कॉन्फ्रेंस में शामिल हो गए।

संघ से सम्बन्धित नवयुवकों को छोड़कर अधिकांश कश्मीरी पंडित भी उसके साथ लग गए। शेख अब्दुल्ला को उस समय दिल्ली दरबार में अपना प्रभाव जमाने के लिए उनकी आवश्यकता भी थी। वे उसके वास्तविक

साम्प्रदायिक रूप को छिपाने के लिए ढाल का काम करने लगे।

वह जानता था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ रियासत में एकमात्र सशक्त राष्ट्रवादी संगठन है। इसलिए उसने सत्ता में आते ही इसे दबाने का प्रयत्न शुरू किया। वह मेरी जान पर हाथ डालने में तो असफल रहा परन्तु मुझे कश्मीर घाटी छोड़ने पर विवश अवश्य कर दिया। मेरा मकान, जिसमें एक अच्छा पुस्तकालय और अन्य कीमती सामान था, लूट लिया गया। मैं कश्मीर घाटी से केवल तीन कपड़ों में निकल पाया।

शेख अब्दुल्ला जानता था कि यदि कश्मीर घाटी में हिन्दू पर्याप्त मात्रा में रहेंगे तो उसके लिए अपने मुस्लिम राष्ट्रवाद और कश्मीरी राष्ट्रवाद को एकरूप करना कठिन होगा। इसलिए उसने सुनियोजित ढंग से कश्मीर में हिन्दुओं को न बसने देने की नीति अपनाई। उसने पाकिस्तानी आक्रमण के समय मुजफ्फराबाद, बारामूला क्षेत्र से भागे हुए हिन्दू-सिक्ख विस्थापितों को भी कश्मीर में वापस आकर वहाँ बसने के रास्ते में रोड़े अटकाने शुरू कर दिये। उसका प्रयत्न था कि वे जम्मू में जाकर बसें या भारतीय पंजाब में चले जाएँ। इन हालात में कश्मीर में पश्चिमी पंजाब से आए हुए शरणार्थियों को बसाने का तो प्रश्न ही न रहा। उन सबको कश्मीर छोड़ना पड़ा।

कश्मीर घाटी में उसका प्रमुख सहायक बख्शी गुलाम मोहम्मद था जिसे उसने बाद में अपने मन्त्रिमंडल में गृहमन्त्री बनाया। कश्मीर में कम्युनिस्ट पार्टी के सहयात्री गुलाम मोहम्मद सादिक और दुर्गाप्रसाद धर उसके अन्य सहायक थे। वैचारिक और नीति-निर्धारण की दृष्टि से उसके सलाहकार भारत के कुछ प्रमुख कम्युनिस्ट थे जिन्होंने उस समय कश्मीर को अपना अड़्डा बनाया हुआ था। उनमें प्रमुख वी० पी० एलाबक्ष और उसकी पत्नी फंडा बक्ष थे। उस समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी भारत में चौदह राष्ट्रों की वकालत किया करती थी। कम्युनिस्ट कश्मीर को शेष भारत से अलग ऐसा राष्ट्र बनाना चाहते थे जिसमें उनका और उनकी विचारधारा का प्रभुत्व हो ताकि वे कश्मीर को अपना 'बेस' बनाकर शेष भारत को सर कर सकें। इस दृष्टि से उन्होंने 'नया कश्मीर' नामक नीतिपत्र तैयार किया और शेख अब्दुल्ला उसके अनुसार काम करने लगा।

कश्मीर में अपने पाँव जमाने के बाद शेख अब्दुल्ला नवम्बर के उत्तरार्ध में जम्मू आया। आने से पहले उसने जम्मू में अपने पाँव पसारने के लिए कॉमरेड गिरधारीलाल डोगरा, कॉमरेड धन्वन्तरि आदि पुराने कम्युनिस्टों को कुंजी के स्थानों पर बैठा दिया था और वे सरकारी सत्ता के बल पर उसके पक्ष में वातावरण बना रहे थे।

जम्मू के लोग राजनीतिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे। उनकी राजनीति राजभक्ति की नीति रही थी। उनके नेता भी राजसिंहासन के ही आगे-पीछे घूमने के अभ्यस्त थे। वह राजसिंहासन अब हवा में उड़ चुका था और राजसत्ता शेख अब्दुल्ला के हाथ में आ चुकी थी। इस प्रकार एक क्रान्ति हो चुकी थी जिसमें शासित शासक बन चुके थे और जम्मू को कश्मीर के आधिपत्य में दे दिया गया था। जम्मू के प्रभावी लोग इस बदल की वास्तविकता को समझ नहीं पा रहे थे। उनमें से कुछ तो अभी भी सत्ताविहीन राजपरिवार की ओर ही मार्गदर्शन के लिए देखते थे। कुछ शेख अब्दुल्ला और उसके साथियों के इर्द-गिर्द भी मँडराने लगे। उनका तर्क था कि शेख अब्दुल्ला भारत सरकार का प्रतिनिधि है इसलिए उसका विरोध करना भारत सरकार का विरोध माना जाएगा।

परन्तु जम्मू की साधारण जनता नई स्थिति से चकाचौंध और किर्कतव्यविमूढ़-सी हो रही थी। उसकी आस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में थी, परन्तु राजनीति से अनभिज्ञ और अलिप्त होने के कारण नई राजनैतिक स्थिति में संघ का कोई नेता उनका मार्गदर्शन करने की स्थिति में नहीं था।

प्रजा परिषद् का निर्माण हो चुका था परन्तु इसका नेतृत्व और संगठन इतना नया था कि इसका व्यावहारिक रूप में अभी कोई विशेष प्रभाव नहीं बन पाया था।

शेख अब्दुल्ला ने जम्मू में कुछ दिन तक स्थिति का मूल्यांकन किया और फिर संघ से प्रभावित राष्ट्रवादी जनता का मनोबल तोड़ने के लिए उस पर सीधे प्रहार करने शुरू कर दिये। जो कोई व्यक्ति या शिष्टमंडल उससे मिलने जाता, वह जली-कटी सुनाकर अपने मन की भड़ास निकालता। इसके साथ-ही-साथ उसने सार्वजनिक मंच से भी जम्मू के लोगों को साम्प्रदायिक कहकर कोसना शुरू किया। पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी

एक दिन के लिए जम्मू में आकर सार्वजनिक सभा में वही राग अलापा ।

इसका परिणाम यह निकला कि कुछ लोग तो पूर्णतया उसके कदमों में जा पड़े और अन्य प्रजा परिषद् के झंडे तले इकट्ठे होने लगे । शेख अब्दुल्ला द्वारा मीरपुर और राजौरी को बचाने के लिए भारतीय सेना को भेजने के विषय में अपनाई गई नीति से उसका साम्प्रदायिक और हिन्दू-विरोधी चरित्र भी खुलकर सबके सामने आ गया । जो उसकी राजनैतिक पृष्ठभूमि को नहीं जानते थे वे भी उसे पहचानने लगे । फलस्वरूप प्रजा परिषद् बड़ी तेजी से लोकप्रिय होने लगी और इसकी शाखाएँ सारे प्रदेश में खुलने लगीं ।

शेख अब्दुल्ला को स्थिति को भाँपने में देर न लगी । वह समझ गया कि जम्मू में उसके पाँव आसानी से नहीं जम पाएँगे । इसलिए उसने जम्मू क्षेत्र में भी अपनी साम्प्रदायिक तथा फूट डालो और राज्य करो की नीति अपनानी शुरू की ।

मीरपुर और पुँछ का पंजाबी भाषा-भाषी क्षेत्र छोड़कर शेष जम्मू, जो मुख्यतः डोगरी अथवा पहाड़ी भाषा-भाषी है, हिन्दू-बहुल क्षेत्र है । इसमें जम्मू, कठुआ, ऊधमपुर और रियासी के चार ज़िले पड़ते थे । ऊधमपुर ज़िला पीरपंचाल पर्वत तक फैला हुआ था और बनिहाल, किश्तवाड़ और भद्रवाह क्षेत्र भी इसी के अन्तर्गत आता था । बनिहाल और किश्तवाड़ में कश्मीर से अकाल के दिनों में बहुत-से कश्मीरी मुसलमान आकर दशकों पहले बस गए थे । बहु-विवाह प्रथा के कारण उनकी जनसंख्या तेजी से बढ़ती रही थी । दूसरी ओर किश्तवाड़ और भद्रवाह की स्थानीय हिन्दू जनसंख्या यौन रोगों और धर्म-परिवर्तन के कारण कम होती गई । फलस्वरूप ऊधमपुर ज़िला चाहे समग्र रूप में हिन्दू-बहुल था, इसका पीरपंचाल के साथ लगने वाला यह उत्तरी भाग मुस्लिम-बहुल हो गया था ।

इसी प्रकार रियासी ज़िला हिन्दू-बहुल था परन्तु पीरपंचाल पर्वत के साथ लगने वाला इसका उत्तरी भाग, जिसमें राजौरी और गुलाबगढ़ के क्षेत्र पड़ते थे, मुस्लिम-बहुल था ।

शेख अब्दुल्ला ने सबसे पहले इन मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों को शेष जम्मू से काटने की योजना बनाई । ज़िलों के पुनर्गठन के नाम पर उसने भद्रवाह, किश्तवाड़ और बनिहाल को ऊधमपुर ज़िले से काटकर एक नया मुस्लिम-

बहुल ज़िला बना दिया जिसका प्रशासनिक केन्द्र चिनाव नदी के उत्तर में स्थित डोडा ग्राम बनाया गया। इसे डोडा ज़िले का नया नाम दिया गया। इसी प्रकार रियासी ज़िले में से राजौरी और गुलाबगढ़ को निकालकर पुंछ के साथ मिलाकर पुंछ के नाम से एक दूसरा मुस्लिम-बहुल ज़िला बना दिया।

ऐसा करने के बाद उसने खुल्लमखुल्ला कहना शुरू कर दिया कि जम्मू प्रदेश केवल पत्नीधार पर्वतश्रृंखला तक है। उसकी इन घोषणाओं से सब लोग समझ गए कि वह जम्मू प्रदेश के इन उत्तरी भागों को जम्मू से काटकर कश्मीर के साथ मिलाना चाहता है और इस प्रकार अपनी सल्तनत पीर-पंचाल पर्वत के दक्षिण तक फैलाना चाहता है।

शेख अब्दुल्ला का यह पग सरासर साम्प्रदायिकता और पृथक्वादिता से प्रेरित था। इसके बहुमुखी परिणाम भी शीघ्र ही जनता के सामने आने लगे।

इससे सारे जम्मू में हाहाकार मच गया। लोगों को यह स्पष्ट दिखने लगा कि कश्मीर लेते-लेते जम्मू भी उनके हाथ से निकल रहा है। फल-स्वरूप सब ओर यह आवाज़ उठने लगी कि प्रजा परिषद् को दृढ़ किया जाए और उसके नेतृत्व में शेख के कलुषित मन्सूबों को बेनकाब और विफल करने के लिए सक्रिय पग उठाए जाएँ।

कुँवर दिलीपसिंह का त्यागपत्र

शेख अब्दुल्ला की गतिविधियों और नीतियों से जम्मू में अब्दुल्ला सरकार के समर्थकों की भी आँखें खुलने लगीं और उन्हें जम्मू प्रजापरिषद् की आवश्यकता और प्रासंगिकता महसूस होने लगी। फलस्वरूप इसकी सदस्यता घड़ाघड़ बढ़ने लगी और इसमें जम्मू के सभी वर्गों, विरादरियों और सम्प्रदायों के लोग बड़ी संख्या में शामिल होने लगे। इस प्रकार इसका सर्वग्राही और राष्ट्रीय स्वरूप निखरकर सामने आने लगा। जम्मू की सामाजिक स्थिति की पृष्ठभूमि में यह आवश्यक भी था।

शेष भारत की तरह इस क्षेत्र में भी हिन्दू समाज विभिन्न विरादरियों और उपजातियों में बँटा हुआ है। जनसंख्या की दृष्टि से उसमें ब्राह्मण, राजपूत और हरिजन प्रमुख हैं। वैश्य तथा अन्य जातियाँ भी थोड़ी-बहुत संख्या में हैं। ब्राह्मणों और राजपूतों में एक प्रकार की वैमनस्य की भावना भी है।

डोंगरा लोग साधारणतया सरल हृदय के और श्रद्धावान होते हैं। वे धर्मपरायण भी हैं और ऐतिहासिक तथा भौगोलिक कारणों से राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए और रूढ़िवादी हैं।

पाकिस्तान, कश्मीर घाटी तथा पाक-अधिकृत क्षेत्र से आए हुए विस्थापितों में केशधारियों की भी काफ़ी संख्या थी।

जम्मू में रहने वाले मुसलमानों में से कट्टर मुस्लिमलीगी तो पाकिस्तान चले गए थे। जो बचे थे उनमें प्रमुख रूप से दो वर्ग थे—कश्मीरी और गूजर। कश्मीरी मुख्य रूप में कश्मीर घाटी के साथ लगने वाले क्षेत्र में बसे हुए हैं, गूजर सारे जम्मू क्षेत्र में फैले हुए हैं। कुछ हिन्दू गूजर भी हैं परन्तु अधिकतर गूजर मुसलमान हो चुके हैं। पशु-पालन ही उनका मुख्य

घन्धा है। वे गर्मियों में पर्वतों की ऊँचाई पर स्थित चरागाहों में चले जाते हैं और सर्दियों में नीचे आ जाते हैं। उनमें से बहुत-से स्थायी रूप में भी कुछ स्थानों पर बस गए हैं।

प्रजा परिषद् में हिन्दुओं के सभी वर्ग बड़ी संख्या में आने लगे। मुसलमानों में कश्मीरी मुसलमान शेख अब्दुल्ला को अपना नेता मानते थे। वे समझने लगे थे कि रियासत में उनका राज्य कायम हो गया है। उन्हें हर प्रकार की सुविधा और नौकरियों में प्राथमिकता भी मिलने लगी थी। इसलिए वे प्रजा परिषद् से एकदम दूर रहे परन्तु अन्य मुसलमान, विशेष रूप में गूजर और राजपूत, बड़ी संख्या में प्रजा परिषद् में शामिल होने लगे। इसके दो कारण थे। कश्मीरी मुसलमान उन्हें अपने से हीन मानते थे परन्तु उनकी जनसंख्या का लाभ भी उठाते थे। वैसे भी इन मुसलमानों के हित और जम्मू की अन्य जनता के हित समान थे। भाषा और वेशभूषा की दृष्टि से भी वे कश्मीरियों से भिन्न और जम्मू के अन्य लोगों के साथ एकरूप हैं। गूजर अपने-आपको भगवान् कृष्ण का वंशज मानते हैं और उन्हें अपनी हिन्दू परम्परा से प्रेम भी है। अतः उन्होंने भी प्रजा परिषद् को अपनी संस्था के रूप में अपनाता शुरू किया।

प्रजा परिषद् का बढ़ता हुआ प्रभाव शेख अब्दुल्ला को अखरने लगा और उसने इसके विरुद्ध विष-वमन शुरू कर दिया। उसके विरोध ने प्रजा परिषद् की लोकप्रियता को और भी बढ़ाया।

प्रजा परिषद् ने भी सारे जम्मू क्षेत्र में जनसभाओं का आयोजन करके शेख अब्दुल्ला की नीतियों और इरादों को बेनकाब करना शुरू कर दिया। परन्तु भारत सरकार के अंध समर्थन के कारण अन्दर के विरोध का शेख अब्दुल्ला पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। इसलिए प्रजा परिषद् की ओर से भारत सरकार को भी ज्ञापन भेजने शुरू किए गए।

उन्हीं दिनों भारत सरकार ने कुँवर दिलीपसिंह को जम्मू-कश्मीर रियासत में अपना एजेण्ट जनरल बनाकर भेजा। उनका काम रियासत में भारत के हितों की देखभाल करना और शेख अब्दुल्ला को उस दृष्टि से समय-समय पर उचित परामर्श देना था।

कुँवर दिलीपसिंह कपूरथला के राजपरिवार में से थे और नए पद पर

आने से पहले पंजाब हाईकोर्ट के जज रह चुके थे। उनकी बहन राजकुमारी अमृतकौर कांग्रेस के केन्द्रीय नेताओं के अति निकट थीं और बाद में केन्द्र में वे स्वास्थ्य मन्त्री भी रहीं। यह परिवार बहुत पहले ईसाई बन चुका था, परन्तु भारतीय हिन्दू संस्कृति और परम्परा के प्रति उनकी श्रद्धा में कोई अन्तर नहीं पड़ा था।

शीतकाल होने के कारण कुँवर दिलीपसिंह ने जम्मू को ही अपना मुख्यालय बनाया। उन्हें जम्मू की पुरानी रेजिडेंसी, जिसमें ब्रिटिश रेजिमेंट रहा करता था, में ठहराया गया।

जब भारत के हितों की दृष्टि से शेख अब्दुल्ला की गतिविधियाँ बहुत भयानक रूप धारण करने लगीं तो प्रजा परिषद् की ओर से मैंने भी कुँवर दिलीपसिंह से मिलने का फ़ैसला किया। पं० प्रेमनाथ डोगरा और मैं इकट्ठे एक दिन प्रातः उनके पास जा पहुँचे।

कुँवर दिलीपसिंह हमें बड़े तपाक से मिले। उन्होंने कहा कि वे जब से जम्मू आए हैं, तब से हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे क्योंकि उनकी जानकारी के अनुसार जम्मू में भारतीय हितों की रक्षा की दृष्टि से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और प्रजा परिषद् ही सक्रिय रूप में काम करने वाली संस्थाएँ हैं। पं० प्रेमनाथ डोगरा के विषय में उन्होंने बहुत कुछ सुन रखा था और उनके लिए उनके मन में बहुत सम्मान भी था। इसलिए सबसे पहले उन्होंने हमें अपने साथ चाय या कॉफ़ी पीने के लिए कहा। पं० प्रेमनाथजी ने कुछ आना-कानी की। इस पर श्री दिलीपसिंह बोले कि शायद आप इसलिए आना-कानी कर रहे हैं कि मैं ईसाई हूँ, परन्तु आपको बता देना चाहता हूँ कि मेरी पूजा-विधि ईसाई मत की है परन्तु मेरी संस्कृति और सभ्यता भारतीय अथवा हिन्दू है। मैं श्रीमद्भगवद्गीता का अनन्य प्रशंसक और पाठक हूँ; उसका स्वाध्याय किए बिना मैं खाना नहीं खाता।

वास्तव में पंडितजी ने उनके साथ चाय या कॉफ़ी पीने के लिए आना-कानी इसलिए नहीं की थी कि वे ईसाई हैं। वे नाश्ता करके आए थे और दिलीपसिंहजी को चाय बनवाने का कष्ट नहीं देना चाहते थे परन्तु कुँवर दिलीपसिंह की बात सुनकर मैंने कहा कि हम कॉफ़ी पियेंगे ताकि उनके मन में किसी प्रकार का दुई का भाव न रहे।

काँफ्री पीते हुए हमारी चर्चा शुरू हुई। हमने जम्मू की स्थिति, शेख अब्दुल्ला की नीतियों का साम्प्रदायिक और भारत-विरोधी पहलू तथा अन्य बातों के विषय में अपने विचार सविस्तार उनके सामने रखे। हमने उनसे कहा कि हमें समझ में नहीं आता कि भारत सरकार शेख अब्दुल्ला की भारत-विरोधी और साम्प्रदायिक गतिविधियों के विषय में अपनी आँखें क्यों बन्द किये हुए है।

हमारी बातें सुनकर न्यायमूर्ति कुँवर दिलीपसिंह बोले कि उन्हें रियासत में भारत के हितों की देखभाल करने के लिए भेजा गया है, परन्तु चन्द दिनों में उन्होंने जो कुछ देखा और सुना है, उससे उन्हें विश्वास हो गया है कि शेख अब्दुल्ला भारतीय हितों के प्रतिकूल काम कर रहे हैं। मैंने कई बार उनका ध्यान उनकी नीतियों के कुप्रभावों की ओर खींचा है, परन्तु वे समझते हैं कि पं० नेहरू के सिवाय उनसे कोई बात नहीं कर सकता और न ही वे किसी की परवाह ही करते हैं। मैंने उन्हें हर ढंग से समझाने का प्रयत्न किया है कि वे ऐसी नीतियाँ न अपनाएँ जिनसे भारत के बृहत् हितों की, जिनमें जम्मू-कश्मीर के हित भी शामिल हैं, हानि हो। परन्तु अभी तक उन्होंने मेरी बातों और सुझावों पर कोई ध्यान नहीं दिया।

अपने कथन को जारी रखते हुए श्री दिलीपसिंह ने आगे कहा—“मैं एक देशभक्त हूँ। मैंने यहाँ भारत सरकार का प्रतिनिधि बनकर आना इसलिए स्वीकार किया है ताकि मैं भारत की कुछ सेवा कर सकूँ। मैं यहाँ केवल पाँच हजार मासिक वेतन लेने या रियासत की सैर करने नहीं आया। मैंने फ़ैसला किया है कि मैं दिल्ली जाऊँ और पं० नेहरू तथा सरदार पटेल को यहाँ की वास्तविक स्थिति से अवगत कराऊँ। यदि उन्होंने मेरी बात पर ध्यान देकर शेख अब्दुल्ला को अपना रंग-ढंग बदलने और मेरे परामर्श से काम करने के लिए बाध्य किया तो मैं वापस आऊँगा अन्यथा वहीं अपने पद से त्यागपत्र दे दूँगा।”

उन्होंने हमें परामर्श दिया कि हम उनकी वापसी की प्रतीक्षा करें और उनसे फिर मिलें। तब वे निश्चित रूप से बता सकेंगे कि क्या वे भारत तथा कश्मीर को भारत से जोड़ने वाली रीढ़ की हड्डीरूपी जम्मू प्रदेश और इसके लोगों के हितों की रक्षा करने में सहायक हो सकते हैं कि नहीं।

हम श्री दिलीपसिंह की देशभक्तिपूर्ण स्पष्ट बातों से बड़े प्रभावित होकर लौटे और हमने अपनी बातचीत की विस्तृत रिपोर्ट अपने कार्यकर्ताओं को दी ।

कुछ दिनों के बाद समाचार मिला कि कुँवर दिलीपसिंह ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया है और वे वापस जम्मू नहीं लौट रहे । स्वाभाविक रूप से इस समाचार से प्रजा परिषद् को और अन्य देशभक्तों को गहरा धक्का लगा । अब यह स्पष्ट हो गया कि शेख अब्दुल्ला पं० नेहरू के अन्ध-समर्थन के कारण हवाई घोड़े पर सवार हैं । भारत सरकार से उन पर अंकुश लगाने की अपेक्षा करना व्यर्थ है । उसकी दुर्नीतियों से जम्मू की जनता तथा भारत के बृहत् हितों की रक्षा करने के लिए प्रजा परिषद् को स्वयं अपनी शक्ति पर निर्भर होना होगा और उसे बलिदान का रास्ता अपनाने के लिए भी तैयार होना होगा ।

शेख अब्दुल्ला और पं० नेहरू द्वारा जम्मू और उसके साथ जुड़े हुए भारत के हितों की उपेक्षा करने के कुछ परिणाम कुँवर दिलीपसिंह के त्यागपत्र के कुछ दिन बाद खुलकर सामने आने लगे ।

भारत : राष्ट्रसंघ के कठघरे में

महाराजा हरिसिंह द्वारा विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करने और २६ अक्टूबर, १९४७ को भारत सरकार द्वारा उस विलय-पत्र पर अपनी मोहर लगा देने के बाद भारत जम्मू-कश्मीर को प्राप्त करने की कानूनी और संवैधानिक लड़ाई जीत चुका था। सारा जम्मू-कश्मीर राज्य अब भारत का अंग था और इसकी सीमाएँ भारत की सीमाएँ बन चुकी थीं। उनकी रक्षा करना और जम्मू-कश्मीर राज्य के सारे क्षेत्र को अपने पूरे अधिकार में लाना अब भारत की सुरक्षा सेनाओं की जिम्मेदारी बन चुकी थी। पाकिस्तान की यह पहली करारी राजनैतिक हार थी। कानूनी और संवैधानिक दृष्टि से अब पाकिस्तान का कश्मीर में कोई स्थान नहीं था।

सैनिक दृष्टि से भी भारत की स्थिति नवम्बर के मध्य तक बहुत सुदृढ़ हो गई थी। पाकिस्तानी आक्रान्ताओं को कश्मीर की घाटी से खदेड़ दिया गया था और उड़ी तक का सारा क्षेत्र भारतीय सेना के अधिकार में आ चुका था।

जम्मू-कश्मीर राज्य के भारत में विलय के बाद कश्मीर के विरुद्ध पाकिस्तान की सैनिक कार्यवाही सारे भारत के विरुद्ध कार्यवाही बन चुकी थी। अब यह पाकिस्तान और जम्मू-कश्मीर का युद्ध नहीं था अपितु भारत-पाक युद्ध बन चुका था। इतिहास इसे प्रमाणित करता है। जब भारत-पाक युद्धों की चर्चा होती है तब इस १९४७ के युद्ध को ही प्रथम युद्ध कहा जाता है।

जम्मू-कश्मीर राज्य के पश्चिमी और उत्तरी क्षेत्र पर आक्रमण करने और उसे हस्तगत करने के लिए पाकिस्तान की भौगोलिक स्थिति बड़ी अनुकूल थी। भारतीय सेना के रास्ते में इन क्षेत्रों तक पहुँचने और वहाँ पर

गोला-बारूद तथा अस्त्र-शस्त्र पहुँचाने में अनेक भौगोलिक बाधाएँ और कठिनाइयाँ थीं। इसलिए युद्ध-नीति का तकाजा था कि भारत पाकिस्तान के उन स्थानों पर प्रत्याक्रमण करता जहाँ भौगोलिक दृष्टि से भारत की स्थिति बेहतर थी। भारत की सैनिक शक्ति उस समय पाकिस्तान से तीन गुना थी और पाकिस्तान की आन्तरिक स्थिति भी भारत की अपेक्षा अधिक अस्त-व्यस्त थी। इसलिए यदि भारत ने लाहौर पर हमला किया होता तो पाकिस्तान को गिलगित समेत जम्मू-कश्मीर के पश्चिम और उत्तरी क्षेत्रों से हटने के लिए विवश किया जा सकता था। ऐसा पग युद्ध को छोटा कर देता और अनावश्यक मार-काट भी न होती। इस दृष्टि से यह पग अधिक 'अहिंसात्मक' होता। सम्भवतः इसी कारण गांधीजी ने भी इसका समर्थन किया था।

परन्तु पं० नेहरू अपने-आपको कश्मीर का ठेकेदार समझ बैठे थे। वे कश्मीर के मामले में शेख अब्दुल्ला के अतिरिक्त किसी की बात सुनने को तैयार नहीं थे। शेख अब्दुल्ला की दृष्टि, चिन्तन और रुचि कश्मीर की घाटी तक सीमित थी। उसके पाकिस्तानी आक्रान्ताओं से मुक्त हो जाने के बाद उसे इस बात की चिन्ता नहीं थी कि शेष रियासत पर किसका अधिकार होता है। वह यह भी समझता था कि कश्मीर घाटी को बचाने के लिए पं० नेहरू कोई कोर-कसर उठा नहीं रखेंगे क्योंकि वे भावात्मक दृष्टि से अपने को कश्मीरी मानते हैं।

पं० नेहरू युद्ध को जम्मू-कश्मीर राज्य तक सीमित रखना चाहते थे। उनका अन्तर्राष्ट्रीयतावाद उनके दुर्बल राष्ट्रवाद पर हावी था। उनकी रुचि का केन्द्र भी केवल-मात्र कश्मीर घाटी थी। वे शेष रियासत को बचाने के लिए पाकिस्तान से युद्ध करके अपने 'शान्ति के पैगम्बर' होने की ख्याति को खतरे में डालने को तैयार नहीं थे। पाकिस्तान के भी वे जनक ही तो थे। इसलिए पाकिस्तान को हानि पहुँचाने का विचार भी उन्हें पसन्द नहीं था।

फलस्वरूप रियासत के पश्चिमी क्षेत्र में पाकिस्तान के लगातार सैनिक दबाव और प्रगति का लाहौर की ओर भारतीय सेना को भेजकर प्रभावी उत्तर देने के स्थान पर पं० नेहरू ने कश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में उठाने का फ़ैसला किया। इस प्रकार उन्होंने एक विशुद्ध आन्तरिक

राष्ट्रीय समस्या को स्वयं ही अन्तर्राष्ट्रीय रूप देकर उलझा दिया। यह उनकी ऐतिहासिक और महान् भूल थी। सरदार पटेल ने उन्हें ऐसा करने से मना किया। उनका कहना था कि भारतीय सेना पाकिस्तान का मुकाबला करने में सक्षम है। पाकिस्तान ने पहल की है। उसे उसका उचित उत्तर दिये बिना राष्ट्रसंघ का द्वार खटखटाना भारत की कमजोरी समझी जाएगी और भारत का घरेलू और मूलतः सैनिक मामला अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दलदल में फँस जाएगा।

३१ दिसम्बर, १९४७ को कश्मीर के मामले को यू० एन० ओ० में ले जाना कश्मीर के मामले में नेहरू सरकार की भूलों और गलतियों की शृंखला की सबसे बड़ी कड़ी थी। यह हर दृष्टि से गलत निर्णय था। पं० नेहरू, जो अपने-आपको विदेश-नीति और कूटनीति का आचार्य मानते थे, को यह पता होना चाहिए था कि राष्ट्रसंघ भी गुटों में बँटा हुआ है और उसका किसी भी प्रश्न पर कोई निर्णय न्याय के आधार पर नहीं होता। वहाँ सौदेबाजी चलती है और विभिन्न देश और गुट अपने-अपने हितों के प्रकाश में ही किसी भी प्रश्न को देखते हैं।

कश्मीर के मामले को राष्ट्रसंघ में ले जाना भूल तो थी ही, उससे भी बड़ी भूल यह थी कि भारत सरकार ने शिकायत करते समय भी पाकिस्तान का बचाव करना चाहा। कश्मीर पर पाकिस्तानियों का आक्रमण पाकिस्तान सरकार द्वारा पूर्णतया प्रेरित था। आक्रमणकारियों में बहुत-से पाकिस्तानी सैनिक भी थे। उनको शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद, यातायात के साधन तथा नेतृत्व, लगभग सभी कुछ पाकिस्तान सरकार द्वारा प्रदान किया जा रहा था। बाद में पाकिस्तान ने खुले रूप में भी अपनी सेना को युद्ध में झोंक दिया था। इन अकाट्य तथ्यों के बावजूद भारत सरकार ने अपनी शिकायत में यह नहीं कहा कि पाकिस्तान भारतीय क्षेत्र पर आक्रमण कर रहा है। भारत की शिकायत केवल इतनी थी कि पाकिस्तान कबाइलियों को अपने क्षेत्र से गुजरकर आक्रमण करने की सुविधा प्रदान कर रहा है। भारत के विदेश मन्त्रालय में जिस किसी ने यह अभियोग-पत्र तैयार किया वह निश्चित रूप से कोई पाक एजेंट या पाक-परस्त व्यक्ति होगा। परन्तु इसकी सारी जिम्मेदारी तो पंडित नेहरू की ही थी क्योंकि वे भारत के

विदेश मन्त्री भी थे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए गोपालस्वामी आर्यंगर और शेख अब्दुल्ला को भेजा गया। आर्यंगर इस कार्य के सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुए। उन्हें न तो अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति का कोई ज्ञान था और न अनुभव। उन्हें कश्मीर समस्या का भी पूरा ज्ञान नहीं था। कश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण के समय वहाँ के प्रधानमन्त्री न्यायमूर्ति मेहरचन्द महाजन इस काम के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति थे। वे एक प्रमुख विधिवेत्ता भी थे और उन्हें कश्मीर के घटनाचक्र का भी पूरा ज्ञान था। उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि वे एक प्रखर राष्ट्रवादी थे और पाकिस्तान के प्रतिनिधि जफरुल्लाखाँ की प्रभावी काट थे। ये दोनों विभाजन से पूर्व लाहौर हाईकोर्ट के जज थे। जफरुल्लाखाँ की तरह मेहरचन्द महाजन भी प्रभावी वक्ता और कूटनीतिज्ञ थे। परन्तु महाजन सरदार पटेल के निकट माने जाते थे और पं० नेहरू अपनी विशुद्ध वैयक्तिक रुचि के कारण उनको पसन्द नहीं करते थे। पं० नेहरू 'स्व' में केन्द्रित व्यक्ति थे और व्यक्तिगत भावना को राष्ट्र-हित पर वरीयता देने में उन्हें कोई झिझक नहीं होनी थी। इसका मूल कारण उनमें प्रखर राष्ट्रवाद का अभाव था।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत की ओर से पं० नेहरू द्वारा दिया गया अदूर-दर्शितापूर्ण और अव्यावहारिक जनमत कराने का वचन भारत के लिए सबसे बड़ा अहितकर तत्त्व सिद्ध हुआ। पाकिस्तानी प्रवक्ता ने मूल प्रश्न से सुरक्षा परिषद् का ध्यान हटाकर कश्मीर की जनता के मत जानने की पं० नेहरू की बात को ही प्रमुखता दे दी। पाकिस्तानी कूटनीति "न हींग लगे न फिटकरी और रंग चोखा होय" का लाभ पं० नेहरू के जनमत-संग्रह के सिद्धान्त के कारण ही उठा सकी। उसने भारत को भारत के ही अस्त्र से त्रस्त करने में सफलता पाई। ब्रिटेन और अमरीका ने उसका समर्थन किया। इस प्रकार भारत को संयुक्त राष्ट्रसंघ में लेने के देने पड़ गए।

झंगड़ का पतन

संयुक्त राष्ट्रसंघ का दरवाजा खटखटाने से रियासत के अन्दर की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया और पाकिस्तानियों का दबाव लगातार बढ़ता गया।

भिम्बर, मीरपुर और राजौरी के पतन के बाद पाकिस्तान का अधिकार-क्षेत्र जम्मू नगर के पश्चिम में लगभग सत्तर मील दूर रह गया था। जम्मू से नौशहरा, राजौरी और पुँछ जाने वाले मार्ग पर झंगड़ का महत्वपूर्ण सड़क-केन्द्र भारत के पास था। उसके दक्षिण में और भिम्बर के पूर्व में पाकिस्तानी सीमा के साथ लगने वाला देवा-बटाला और छम्ब क्षेत्र भी भारत के हाथ में ही था। पाकिस्तान ने भिम्बर से जेहलम नदी तक अपनी पकड़ पक्की कर ली थी। उस मुस्लिम-बहुल क्षेत्र के सारे हिन्दू या तो मार दिये गए थे या जम्मू की ओर खदेड़ दिये गए थे। जम्मू की ओर बढ़ने के लिए पाकिस्तान झंगड़ पर अधिकार करने की योजना बना रहा था, साथ ही सीमा के साथ लगने वाले हिन्दू-बहुल गाँवों, देवा-बटाला और छम्ब पर भी दबाव बढ़ा रहा था।

रियासत की नई सरकार का यह पहला कर्तव्य था कि जो क्षेत्र अभी पाकिस्तान के हाथ में नहीं पड़ा था, उसकी रक्षा का उचित प्रबन्ध करे और पाकिस्तान को अपने अधिकृत क्षेत्र का जम्मू की ओर विस्तार करने से रोके। इसके लिए आवश्यक था कि इस क्षेत्र की सुरक्षा का भार भी कश्मीर घाटी की तरह भारतीय सेना को सौंप दिया जाता। परन्तु इसके लिए शेख अब्दुल्ला तैयार नहीं था। वह अभी भी सारी उपलब्ध भारतीय सेना को कश्मीर के मोर्चे पर भेजने में तुला हुआ था। उसे जम्मू की चिन्ता नहीं थी।

भारत सरकार ने कश्मीर का मामला मुकम्मल तौर पर पं० जवाहर-

लाल नेहरू के हाथ में सौंप रखा था और पं० नेहरू शेख अब्दुल्ला की जेब में थे। वे जम्मू-कश्मीर में शेख अब्दुल्ला की मर्जी के विरुद्ध कुछ भी करने को तैयार नहीं थे, इसलिए भारतीय सेना भी अपने-आप कुछ नहीं कर सकती थी।

भारतीय सेना की ढाल के अभाव में इन सीमावर्ती इलाके के लोगों को अपनी और अपनी धरती की रक्षा स्वयं ही करनी पड़ रही थी। वे इसके लिए सक्षम थे, यदि उनके पास हथियार होते और उन्हें शासन की ओर से पूरा समर्थन मिलता। देवा-बटाला का क्षेत्र हिन्दू चिव राजपूतों का क्षेत्र था। उनमें से अनेक अवकाश-प्राप्त सैनिक थे। पाकिस्तान बनने से पहले उनका पास के पश्चिमी पंजाब के गाँवों में भी दबदबा था।

भिम्बर के पतन के बाद से पाकिस्तानियों ने इस क्षेत्र पर अपना दबाव बढ़ा दिया था। यहाँ के बहादुर लोग उनका बड़ी वीरता से मुकाबला कर रहे थे। उनके अनेक सन्देशवाहक नित्यप्रति जम्मू आते थे और पं० प्रेमनाथ डोगरा से प्रार्थना करते थे कि उन्हें कुछ और बन्दूकें और गोला-बारूद दिलवा दीजिए अन्यथा उनके लिए अधिक देर तक पाकिस्तानियों को रोकना सम्भव नहीं होगा। पंडितजी और प्रजा परिषद् की ओर से मैंने स्वयं भी कई बार शेख अब्दुल्ला और भारत सरकार से इन लोगों को अस्त्र-शस्त्र देने के लिए आग्रह किया। परन्तु इनके अनुनय-विनय और हमारी प्रार्थना पर न अब्दुल्ला सरकार ने कोई ध्यान दिया और न ही भारत सरकार ने।

फलस्वरूप देवा-बटाला के लोगों की स्थिति कमजोर होती गई और उन पर पाकिस्तानी आक्रमणों का वेग बढ़ता गया। आखिर जनवरी, १९४८ के शुरू में एक दिन पाकिस्तान की भारी गोलीबारी ने उन्हें अपने घरबार छोड़कर और शरणार्थी बनकर जम्मू में आने पर बाध्य कर दिया।

रियासत में भारतीय सेना के आने के दो महीने बाद जम्मू के इस निकटवर्ती हिन्दू-बहुल क्षेत्र का पाकिस्तान के हाथ में पड़ना शेख अब्दुल्ला की न केवल जम्मू-विरोधी और हिन्दू-विरोधी बल्कि भारत-विरोधी नीतियों का भयानक परिणाम था। इसके कारण पाक-अधिकृत क्षेत्र की सीमा छम्ब तक पहुँच गई। पाकिस्तान का उद्देश्य पश्चिम से बढ़कर अखनूर नगर के निकट चिनाब नदी के पुल पर अधिकार करना और जम्मू को अपनी तोपों

की जद में लाना था। पाकिस्तान का यह भी प्रयत्न था कि यह संघर्ष जम्मू-कश्मीर राज्य के अन्दर ही रहे ताकि वह संसार को यह बता सके कि जम्मू-कश्मीर के लोग ही पाकिस्तान के पक्ष में अपनी सरकार के विरुद्ध लड़ रहे हैं। पाकिस्तान की सीमा और छावनियाँ निकट होने के कारण वह छद्म आक्रामकों को हर प्रकार की सैनिक सहायता परोक्ष रूप में आसानी से पहुँचा सकता था। कुछ महत्वपूर्ण नाकों पर उसने अपनी सेना को प्रत्यक्ष रूप में भी लड़ाई में झोंक दिया था।

भारत सरकार को अपनी सेना के लिए सारा सामान पठानकोट से लाना पड़ता था। पक्की सड़क और रावी, उज्ज तथा बसन्तर नदियों पर पुलों के अभाव में भारतीय सेना के समक्ष यातायात की समस्या जटिल बनी हुई थी। बुद्धिमत्ता और कुशल सामरिक नीति का तकाजा था कि भारत सरकार अपनी सेना को अमृतसर से लाहौर की ओर बढ़ने का आदेश देती। उस सूरत में पाकिस्तान का कश्मीर और जम्मू पर सैनिक दबाव अपने-आप कम हो जाता। इतिहास साक्षी है कि स्वयं महात्मा गांधी ने भी ऐसा करने का सुझाव दिया था, परन्तु पं० नेहरू इसके लिए तैयार नहीं थे। लड़ाई को रियासत के अन्दर सीमित रखने में फ़ासले और संचार का भरपूर लाभ (Logistic advantage) पाकिस्तान को प्राप्त हो रहा था। लम्बी और कठिन सप्लाई लाइन के कारण भारत की वीर सेना पाकिस्तानी सेना के मुकाबले में घाटे की स्थिति में थी। रही-सही कसर शेख अब्दुल्ला की भारत-विरोधी और हिन्दू-विरोधी नीतियाँ पूरा कर रही थीं।

देवा-बटाला के छिन जाने के कुछ दिन बाद जम्मू में सूचना मिली कि पाकिस्तान का दबाव झंगड़ पर बढ़ रहा है। यह भी जानकारी मिली कि अब पाकिस्तान की नियमित सेना भी इस क्षेत्र में आ गई है।

मैं और मेरे साथी झंगड़ के सामरिक महत्व से भली-भाँति परिचित थे। इसके पाकिस्तान के हाथ में आ जाने से जम्मू से राजौरी-पुँछ का रास्ता कट जाता था और पाकिस्तान के लिए अखनूर तथा जम्मू की ओर बढ़ने का रास्ता खुल जाता था। इसलिए हमने जम्मू स्थित भारतीय सेना के कमाण्डर से मिलकर उससे प्रार्थना की कि वह झंगड़ की रक्षा के लिए तुरन्त प्रभावी

पग उठाए। उसने फिर अपनी पुरानी विवशता को दोहराया। भारतीय कमाण्डर का यह कहना था कि भारतीय सेना इस क्षेत्र से बिल्कुल अनभिज्ञ होने के कारण बिना स्थानीय सहायता के प्रभावी रूप में कुछ कर भी नहीं सकेगी। इस पर हमने पेशकश की कि यदि भारतीय सेना की टुकड़ी झंगड़ के लिए भेजी जा सके तो इसके साथ चलने और इसे हर प्रकार का सहयोग देने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रशिक्षित स्वयंसेवकों का एक दल तैयार किया जा सकता है।

परन्तु पूर्व इसके कि झंगड़ को बचाने के लिए कोई पग उठाया जाता, झंगड़ के पतन का समाचार मिल गया। यह भी सूचना मिली कि झंगड़ से आगे बढ़कर पाकिस्तानी सेना नौशहरा की ओर बढ़ रही है और हज़ारों शरणार्थी जम्मू की ओर भाग रहे हैं। इन शरणार्थियों को आवश्यक सहायता पहुँचाने और पाकिस्तानी सेना को आगे बढ़ने से रोकना अब और भी अधिक आवश्यक हो गया। भारतीय सेना के कमाण्डर ने इस काम के लिए सेना की एक टुकड़ी इस शर्त पर भेजना स्वीकार किया कि उसके सहयोग के लिए स्वयंसेवकों का दल उसके आगे चले।

स्वयंसेवकों का दल तैयार करने के लिए स्वयंसेवकों का आह्वान किया गया। निश्चित समय पर एक सौ से अधिक युवक स्वयंसेवक पूर्ण गणवेश में पं० प्रेमनाथ डोगरा की कोठी के बाहर के प्रांगण में इकट्ठे हो गए। उनका गणवेश सेना के गणवेश से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। उनके फुलबूटों और पेटियों की चमक सेना के जवानों के बूटों और पेटियों को भी मात देती थी।

उन स्वयंसेवकों का पं० प्रेमनाथ डोगरा ने उद्बोधन किया और मैंने भी उनसे दो शब्द कहे। श्री दुर्गादास वर्मा को उनका प्रमुख नियुक्त किया गया। उसके बाद एक देशभक्तिपूर्ण समूहगान हुआ और फिर यह स्वयंसेवकों की टोली पूर्ण सैनिक ढंग से मस्ती के साथ अखनूर की ओर निकल पड़ी।

जम्मू के नागरिकों ने स्वयंसेवकों की इस सरफ़रोश वाहिनी को स्थान-स्थान पर भाव-भीनी बिदाई दी।

सेना और इन स्वयंसेवकों के संयुक्त प्रयत्नों से बहुत-से शरणार्थियों

को सुरक्षित अखनूर और जम्मू में लाया जा सका ।

परन्तु झंगड़ के पतन से सामरिक दृष्टि से जम्मू भी खतरे में पड़ गया था । कहीं एक दिन जम्मू की भी भिम्बर, मीरपुर और झंगड़ की-सी हालत न हो, लोगों के दिलों में ऐसी दहशत बैठने लगी । शेख अब्दुल्ला और उसकी सरकार पर से जम्मू की जनता की आस्था बिल्कुल उठ चुकी थी । इसलिए सबकी नज़रें दिल्ली की ओर टिकने लगीं । जम्मू के साथियों और गण्यमान्य लोगों का मत था कि दिल्ली जाकर सारी स्थिति सरदार वल्लभ भाई पटेल को बतानी चाहिए । वे ही पं० नेहरू को ठीक रास्ते पर ला सकेंगे । उन सबका आग्रह था कि इस काम के लिए मैं स्वयं दिल्ली जाऊँ ।

मैंने अपने साथियों के इस आग्रह के आगे सिर झुकाया और दिल्ली जाने का कार्यक्रम बनाया । सड़क के रास्ते जाने में बहुत समय लग सकता था, इसलिए विमान से जाने की योजना बनी । यह सुझाव भी दिया गया कि दिल्ली जाने से पहले मैं जालन्धर में रुककर पंजाब के राज्यपाल श्री चन्दूलाल त्रिवेदी से भी मिलता जाऊँ । वे सरदार पटेल के बहुत निकट समझे जाते थे । जम्मू-कश्मीर के साथ लगे हुए प्रदेश के राज्यपाल होने के कारण उनकी जम्मू-कश्मीर के मामले में रुचि स्वाभाविक ही थी ।

एक ऐतिहासिक पत्र

जम्मू-कश्मीर राज्य के भारत में विलय और भारतीय सेना द्वारा रियासत की सुरक्षा की जिम्मेदारी सँभालने के बाद गिलगित पर पाकिस्तान का अधिकार हो जाने और जम्मू-प्रान्त में भिम्बर, मीरपुर, राजौरी, देवा-बटाला और झंगड़ के पतन और जम्मू के लिए बढ़ते हुए खतरे से महाराजा हरिसिंह को गहरा आघात लगा। यू० एन० ओ० की सुरक्षा परिषद् द्वारा ५ जनवरी, १९२० को पारित प्रस्ताव से भी उन्हें धक्का लगा। उन्होंने अपनी रियासत का भारत में विलय इसलिए किया था कि भारत की सेना रियासत की पाकिस्तान से रक्षा कर सके और उसकी प्रजा को पाकिस्तानी दरिन्दों की मार-काट से बचा सके। इसके लिए उन्होंने अपनी इच्छा के विरुद्ध शेख अब्दुल्ला को अपने राज्य का आन्तरिक प्रशासन देना भी स्वीकार किया था परन्तु जब उन्होंने देखा कि विलय और भारतीय सेना के आने के बावजूद न केवल कश्मीर घाटी को छोड़कर शेष रियासत और सारी हिन्दू-प्रजा पाकिस्तान और पाकिस्तानियों से पिट रही है बल्कि सारे जम्मू-कश्मीर के फिर पाकिस्तान को दिए जाने की सम्भावना पैदा हो गई है, उन्हें बहुत निराशा हुई। शेख अब्दुल्ला के अपमानजनक और विरोधी रवैये ने उनकी मानसिक पीड़ा को और बढ़ा दिया। उनकी इस पीड़ा और जम्मू-कश्मीर की उस समय की स्थिति और सुरक्षा परिषद् की कार्रवाई पर उनकी प्रतिक्रिया का विशद वर्णन उनके द्वारा ३१ जनवरी को सरदार पटेल को लिखे गए एक गुप्त पत्र से, जो हाल ही में प्रकाश में आया है, मिलता है।

महाराजा हरिसिंह ने उस समय रियासत की राजनैतिक और सुरक्षा की स्थिति का विस्तृत चित्र देने के बाद उस पत्र में लिखा :

“ऊपर वर्णन की गई स्थिति से मेरे मन में विचार उठता है कि इस स्थिति को सँभालने के लिए मैं क्या कर सकता हूँ। इसी भाव से मैं आपको अपने दिल की बात साफ़-साफ़ लिख रहा हूँ। मेरे मन में एक विचार यह उठ रहा है कि मैं अपनी रियासत के भारत के साथ विलय को रद्द कर दूँ। यदि भारत सरकार ने विलय को अस्थायी रूप में ही स्वीकार किया है और यदि यह मेरी रियासत के पाक-अधिकृत क्षेत्र को वापस नहीं ले सकती और यदि यह संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा समिति के उस प्रस्ताव को मानने जा रही है जिसके परिणामस्वरूप वह मेरी रियासत को पाकिस्तान को सौंप सकती है तो भारत के साथ विलय को बनाए रखने का कोई मतलब नहीं रहता। इस समय शायद पाकिस्तान के साथ बेहतर शर्तों पर बातचीत हो सकती है परन्तु वह अर्थहीन होगी क्योंकि उस सूरत में मेरे राजवंश और मेरी हिन्दू-सिक्ख प्रजा का तो अन्त हो ही जाएगा। मेरे पास दूसरा विकल्प यह है कि मैं विलय-पत्र को वापस ले लूँ। उससे संयुक्त राष्ट्रसंघ में की गई शिकायत और सुरक्षा परिषद् का प्रस्ताव अपने-आप खत्म हो जाएगा क्योंकि विलय वापस लेने के बाद भारत सरकार द्वारा सुरक्षा परिषद् की कार्रवाई में भाग लेने का कोई औचित्य नहीं रहेगा। इसके परिणामस्वरूप मेरी रियासत फिर उसी स्थिति में आ जाएगी जिसमें वह विलय से पहले थी। मैं अपनी सेना और भारतीय सेना के उन सैनिकों का, जो स्वयंसेवकों के रूप में यहाँ रह जाएँगे, नेतृत्व स्वयं सँभालने को तैयार हूँ। वह स्थिति आज की स्थिति से तो बेहतर होगी। मैं अपने वर्तमान असहाय जीवन से तंग आ चुका हूँ। युद्ध में लड़ते हुए वीरगति प्राप्त करना असहाय होकर अपनी प्रजा की दुर्दशा को देखते रहने से बेहतर होगा।

जहाँ तक रियासत की आन्तरिक राजनैतिक स्थिति का सम्बन्ध है, मैं सर्वैधानिक राजा के रूप में काम करने को तैयार हूँ। परन्तु मैं नेशनल कॉन्फ्रेंस के नेताओं से सन्तुष्ट नहीं हूँ। वे न हिन्दू, सिक्खों का और न मुसलमानों के एक बड़े वर्ग का विश्वास प्राप्त कर सके हैं, इसलिए मुझे अपने पास कुछ आरक्षित अधिकार रखने होंगे और मेरा अपनी मर्जी का एक दीवान होना चाहिए जो रियासत के मन्त्रिमण्डल का सदस्य हो और सम्भव हो तो उसका अध्यक्ष भी हो। आपको मेरे इस चिन्तन की जानकारी

पहले भी है।

दूसरा विकल्प यह है कि यदि मैं कुछ करने की स्थिति में नहीं हूँ तो मैं राजगद्दी को छोड़े बिना कुछ समय के लिए रियासत से बाहर चला जाऊँ ताकि मेरी प्रजा मुझसे यह अपेक्षा न करे कि मैं उसके लिए कुछ कर सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि जैसे श्री मेनन के कहने पर मेरे श्रीनगर से जम्मू आने के बाद यह कुप्रचार किया गया था कि मैं कश्मीर से भाग गया वैसे ही अब भी प्रचार किया जाएगा कि मैं अपने लोगों को दुरावस्था में छोड़कर भाग गया हूँ। परन्तु इस प्रकार की आलोचना से बचने के लिए ऐसी स्थिति, जिसमें मैं कुछ भी नहीं कर सकता, बने रहने का कोई लाभ नहीं है।

तीसरा विकल्प यह है कि भारत अपनी सैनिक ज़िम्मेदारी को प्रभावी ढंग से निभाए। इसे पूरी शक्ति लगाकर न केवल पाकिस्तानी हमलों को रोकना चाहिए, बल्कि पाक घुसपैठियों और विद्रोहियों को रियासत से खदेड़ना चाहिए। पाकिस्तान भारत की अपेक्षा युद्ध के लिए अधिक सन्नद्ध है। ज्योंही बर्फ़ पिघलेगी, यह कश्मीर पर चारों ओर से हमला करेगा और लद्दाख भी शत्रु के अधिकार में चला जाएगा। इसलिए यदि भारत ने युद्ध को पूरे बल से, प्रभावी ढंग से लड़ने का मन न बनाया तो मुझे पहले के दो विकल्पों में से एक अमल करना होगा।”

इस पत्र से सरदार पटेल को जम्मू-कश्मीर की वास्तविक स्थिति और महाराजा हरिसिंह की वेदना की पूरी जानकारी मिल गई। इसका आभास मुझे उनसे मिलने पर हुआ।

सरदार पटेल ने वह पत्र पं० नेहरू को अवश्य दिखाया होगा और उनके द्वारा इसकी जानकारी शेख अब्दुल्ला को भी मिल गई होगी। इसके बाद जहाँ एक ओर भारत सरकार ने जम्मू-कश्मीर में सैनिक कार्रवाई को अधिक प्रभावी बनाने का प्रयत्न किया वहाँ दूसरी ओर शेख अब्दुल्ला का महाराजा और जम्मू के लोगों के प्रति रुख और अधिक कड़ा हो गया।

सरदार पटेल और पं० नेहरू से भेंट

मैं जम्मू से विमान द्वारा २९ जनवरी को निकला और सायंकाल जालन्धर पहुँच गया। ३० जनवरी, १९४८ को मैंने पंजाब के राज्यपाल श्री त्रिवेदी से सम्पर्क किया। उन्होंने मुझे ३१ जनवरी को मिलने का समय दिया, परन्तु ३० जनवरी रात को गांधीजी की हत्या का समाचार पाकर वे दिल्ली चले गए, इसलिए उनसे भेंट न हो सकी।

फरवरी का सारा महीना गांधीजी की हत्या की हलचल में निकल गया। पं० नेहरू और सरदार पटेल के बीच मतभेद भी उभरकर सामने आया। वामपंथियों ने श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में उस अवसर को 'सम्प्रदायवादियों', 'प्रतिक्रियावादियों' और 'दक्षिणपंथियों' के विरुद्ध कीचड़ उछालने और उनका अस्तित्व समाप्त करने के लिए प्रयोग किया। तब श्री जयप्रकाश नारायण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के घोर शत्रु थे। यह तो समय ही बताएगा कि कौन वास्तव में प्रगतिवादी और देशभक्त हैं और कौन प्रतिक्रियावादी, विदेशों के एजेण्ट और देशद्रोही हैं। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि आने वाले दिनों में भारत की सत्ता कैसे लोगों के हाथ में होगी और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति क्या रूप लेगी।

मुझे सरदार वल्लभ भाई पटेल से मिलने का जीवन में पहला अवसर ८ मार्च, १९४८ को मिला। यह मेरी उस लौह-पुरुष से पहली भेंट थी। उनका शरीर दुबला, रंग पक्का और उनके चेहरे की मुद्रा गम्भीर और कठोर थी। वे सचमुच भारत की धरती से जुड़े हुए किसान लगते थे।

मैंने १५-२० मिनट तक उनके सामने जम्मू-कश्मीर की भौगोलिक और राजनैतिक स्थिति तथा शेख अब्दुल्ला के कुकृत्यों और मत्सूबों का

विवेचन किया। मैंने तथ्यों के साथ उन्हें बताया कि किस प्रकार जम्मू क्षेत्र के हिन्दुओं की विनाश-लीला रियासत के भारत के साथ विलय और शेख अब्दुल्ला के सत्तारूढ़ होने के बाद शुरू हुई, किस प्रकार वह कश्मीर को ही नहीं अपितु जम्मू के उत्तरी भाग को भी कश्मीर के साथ मिलाकर एक स्वतन्त्र सल्तनत कायम करने के लिए योजनाबद्ध ढंग से प्रयत्न कर रहा है। मैंने आशंका व्यक्त की कि यदि स्थिति को सँभाला न गया तो कश्मीर घाटी के साथ-साथ जम्मू भी भारत के हाथ से निकल जाएगा और भारत के सारे प्रयत्न और भारतीय सेना के सारे बलिदान विफल हो जाएँगे।

सरदार पटेल मेरी बात चुपचाप सुनते गए। उनकी ओर से कुछ हँ-हाँ भी सुनने को न मिली। परन्तु जब मैं अपना कथन समाप्त कर चुका तो उन्होंने अपना मुँह खोला और धीरे से कहा—“You are trying to convince a convinced man.”—आप उस व्यक्ति को समझाने का प्रयत्न कर रहे हो जो पहले से ही सारी स्थिति को जानता है और आपके कथन की सत्यता के विषय में आश्वस्त है। परन्तु मैं कुछ कर नहीं सकता, आपको पं० नेहरू से मिलना चाहिए।

उनकी बात सुनकर मैंने कहा, “सरदार, आप रियासत के मन्त्री हैं, सभी देशी रियासतों के मामले आप सुलझा रहे हैं। जम्मू-कश्मीर के लोगों की आप पर आस्था है। वे सब आपकी ही ओर देख रहे हैं।”

यह बात सुनकर सरदार कुछ उद्विग्न हुए। उन्होंने कहा, “यह ठीक है कि रियासतों का मन्त्रालय मेरे पास है, परन्तु कश्मीर का मामला पं० नेहरू ने अपने हाथ में रखा हुआ है। उनका कहना है कि वे कश्मीरी हैं और कश्मीर के सम्बन्ध में वे बेहतर जानते हैं इसलिए मैं कुछ नहीं कर सकता। हाँ, यदि वे मुझे कश्मीर का मामला भी सौंप देंगे तो एक महीने में सब ठीक कर दूँगा। आप पं० नेहरू से मिलिए। मैं उन्हें कहलवा दूँगा। वे आपसे मिलने का समय देंगे।”

जब मैं उनसे विदा लेकर निकलने लगा तो उन्होंने पूछा कि क्या आपके पास कुछ लिखित सामग्री है? मैं एक लिखित ज्ञापन, जिसमें सभी तथ्य और सुझाव दिये हुए थे और जम्मू-कश्मीर का एक मानचित्र, जिसमें शेख द्वारा प्रस्तावित जिलों की पुनर्रचना और पाकिस्तान द्वारा अधिकृत क्षेत्र दिखाए

गए थे, अपने साथ ले गया था। वे मैंने उन्हें दे दिए।

सरदार पटेल से मिलकर मुझे महसूस हुआ कि मेरा वास्तव में एक महान् व्यक्तित्व से साक्षात्कार हुआ है। उन्होंने जिस दक्षता से भारत की पाँच सौ से अधिक रियासतों का भारत में विलय करके खंडित भारत को एक दूसरे ढंग से अखंड बनाने का सफल प्रयास किया और जिस प्रकार भारत की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों को राष्ट्रवादी तथा यथार्थवादी दिशा देने का प्रयत्न किया उसके लिए भारत युगों-युगों तक उनका कृतज्ञ रहेगा। वे वर्तमान युग के चाणक्य भी थे और चन्द्रगुप्त भी। उनमें इन दोनों महापुरुषों के बहुत-से गुणों का मिश्रण था।

सरदार पटेल से मिलने के बाद उनके परामर्श के अनुसार मैंने पं० नेहरू के कार्यालय से सम्पर्क करके उनसे मिलने का समय माँगा। सम्भवतः सरदार पटेल के निजी सचिव ने उन्हें मेरे विषय में बता दिया था। इसलिए तुरन्त मिलने का समय मिल गया।

मुझे पं० नेहरू का व्यक्तित्व सरदार पटेल से बिल्कुल भिन्न लगा। उनका कद अपेक्षाकृत लम्बा, रंग गोरा और शरीर के अंग-अंग में कोमलता विद्यमान थी। वे चाँदी का चमचा लेकर पैदा हुए थे और सोने के चमचों के साथ जी रहे थे। उनके बाल्यकाल का बड़ा भाग और नवयौवन इंगलिस्तान में वहाँ के सामन्तों के बेटों के साथ कटा था। वे कम्युनिस्ट रूस में भी कुछ दिन रहकर आए थे। उनके मन में सम्भवतः अपने परिवार की शोषणपूर्ण अमीरी के कारण एक प्रकार की ग्लानि की भावना पैदा हुई जिसने उन्हें भावात्मक दृष्टि से समाजवादी बना दिया। परन्तु व्यावहारिक जीवन में वे सामन्तवादी और अंग्रेजीपरस्त ही बने रहे। उनके बोलने की शैली और उनकी भाषा भी सरदार पटेल से बिल्कुल भिन्न थी।

मैं पं० नेहरू से उनके साउथ ब्लॉक स्थित दफ्तर में मिला। जम्मू-कश्मीर के अवकाशप्राप्त जंगल विभाग के प्रमुख श्री मुल्कराज गंडोत्रा मेरे साथ थे। मैंने उनके सामने भी वही कहानी दुहराई जो सरदार पटेल के सम्मुख कही थी। ज्योंही शेख अब्दुल्ला की आलोचना शुरू हुई, पंडितजी के चेहरे के भाव बदलने लगे। वे बार-बार हमें बीच में टोकने लगे, परन्तु हम यह निश्चय करके आए थे कि हम अपनी सारी बात उन्हें सुनाकर ही रहेंगे।

इसलिए मैं उनकी प्रतिक्रिया की चिन्ता न करता हुआ अपनी बात कहता गया। अभी बात पूरी भी न हुई थी कि पंडितजी बोल उठे, “हमने कश्मीर और शेख अब्दुल्ला के लिए इतना कुछ किया है। हमने उसे वहाँ का मुख्य-मन्त्री बनाया है और सारी सत्ता उसके हाथ में सौंप दी है। वह अगर ऐसा व्यवहार करेगा तो मुझे बड़ी हैरानी होगी।”

इस पर मैंने कहा कि “करेगा का प्रश्न नहीं, वह ऐसा कर रहा है और यदि उसे रोका न गया तो कश्मीर के साथ-साथ जम्मू भी भारत के हाथ से निकल जाएगा। उसके बाद आपको हैरानी होने से कुछ नहीं होगा। आपको तुरन्त कुछ करना चाहिए।”

इसका पंडितजी ने कोई उत्तर नहीं दिया। मुझे यह तो पता था कि पं० नेहरू का शेख अब्दुल्ला पर बहुत विश्वास है परन्तु मेरा यह भी विश्वास था कि पं० नेहरू के सामने भी देश के हित हैं और अपने तथ्यों और तर्कों से हम उन्हें कुछ सीमा तक तो अवश्य प्रभावित कर सकेंगे। मेरा यह विश्वास इस भेंट से हिल गया। हमें लगा कि पं० नेहरू का मस्तिष्क बिल्कुल बन्द है। वे कश्मीर और शेख अब्दुल्ला के सम्बन्ध में एक धारणा बना चुके हैं और वे ऐसी किसी बात को भी, जो उस धारणा से मेल न खाती हो, सुनने को भी तैयार नहीं थे। उनसे हुई बातचीत से मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि जम्मू के लोगों, विशेषकर प्रजा परिषद् को जम्मू-कश्मीर राज्य और भारत के हितों की रक्षा के लिए संघर्ष और बलिदान का रास्ता अपनाना पड़ेगा।

सरदार पटेल और पं० नेहरू के अतिरिक्त मैं कुछ अन्य मन्त्रियों और संसद सदस्यों से भी मिला। उनमें से जिसने सरदार पटेल के बाद मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वे थे डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी। वे उस समय भारत के उद्योगमन्त्री थे।

दिल्ली में अपना मिशन समाप्त करके मैं जम्मू वापस लौटने का विचार कर रहा था कि मुझे सूचना मिली कि शेख अब्दुल्ला ने मुझे रियासत से निष्कासित कर दिया है और मेरे लौटने पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। इतना ही नहीं बल्कि उसने मेरे परिवार—मेरे अवकाशप्राप्त पिताश्री जगन्नाथ जी मधोक, मेरी माताजी, तीन छोटे भाइयों और एक बहन को, जो उस समय जम्मू में ही रह रहे थे—को भी जम्मू से निकल जाने का आदेश दे

दिया है। सम्भवतः उसे मेरी दिल्ली की गतिविधियों का पता लग गया था। महात्मा गांधी की हत्या के कारण विरोधियों की धर-पकड़ के वातावरण का उसने भी लाभ उठाया और अपने रास्ते का कांटा रियासत से ही निकाल दिया।

शेख अब्दुल्ला का यह पग सरासर अनुचित और लोकतान्त्रिक परम्पराओं के विपरीत था। देश के प्रधानमंत्री और गृहमन्त्री को मिलना और उन्हें राज्य के हालात से अवगत करना कोई अपराध नहीं था, परन्तु यदि यह मान भी लिया जाय कि शेख अब्दुल्ला सत्ता की लड़ाई लड़ रहा था और अपने राजनैतिक विरोधियों को हर ढंग से दबाना चाहता था तो भी उसका मेरे साथ मेरे अवकाशप्राप्त पिताजी और परिवार को भी रियासत से निकाल देना अनुचित ही नहीं घोर अन्याय और दमन भी था। मेरे पिताजी ने आयुपर्यन्त रियासत की सेवा की थी और उन्होंने जम्मू में स्थायी रूप में बसने का मन बनाया हुआ था क्योंकि गुजराँवाला तो पाकिस्तान में जा चुका था और वहाँ लौटने का प्रश्न नहीं था। इस निष्कासन आदेश के कारण मेरे माता-पिता और भाई-बहन को भी शरणार्थी के रूप में दिल्ली आना पड़ा। इस प्रकार मेरी देशभक्ति का दण्ड उन्हें भी भुगतना पड़ा।

खंडित कश्मीर : युद्धबन्दी और उसके परिणाम

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् ने अपने २० जनवरी के प्रस्ताव द्वारा कश्मीर समस्या का अध्ययन करने और पाकिस्तान द्वारा उठाए गए अन्य मुद्दों पर भी विचार करने के लिए एक पाँच सदस्यीय कमीशन का गठन किया। उस कमीशन के सदस्य जुलाई, १९४८ में भारत आए और बाद में जम्मू-कश्मीर के अन्दर भी गए। उन्होंने जो कुछ देखा और सुना उससे यह विश्वास हो गया कि पाकिस्तान केवल कबाइली घुसपैठियों को सहायता ही नहीं दे रहा अपितु इसकी नियमित सेना भी जम्मू-कश्मीर में युद्धरत है। नवम्बर, १९४८ में इस कमीशन ने जो रिपोर्ट सुरक्षा परिषद् को दी उसमें इसने कहा कि सर्वप्रथम कश्मीर में युद्ध बन्द कराने पर जोर देना चाहिए। इस पर सुरक्षा परिषद् ने २५ नवम्बर को एक सर्वसम्मत प्रस्ताव द्वारा भारत और पाकिस्तान से तुरन्त युद्ध बन्द करने की अपील की।

उस समय तक सैनिक दृष्टि से भारत का पलड़ा सारी रियासत में भारी हो चुका था। जनरल थिमैया के नेतृत्व में भारत की सेना ने योजिला दर्रा के उस पार हलके टैंकों से हमला करके पाकिस्तान को लद्दाख और कारगिल से पीछे हटने पर बाध्य करके योजिला दर्रा और उसमें से होकर कारगिल के रास्ते से लेह जाने वाली सड़क को पूरी तरह भारत के अधिकार में ले लिया था।

कुपवारा सेक्टर में भारत की सेना ने हिमालय की शृंखला को पार करके कृष्णगंगा नदी की घाटी में बढ़ना शुरू किया। उड़ी सेक्टर में भारत की सैनिक टुकड़ियाँ सुरक्षात्मक मोर्चा छोड़कर मुजफ्फराबाद की ओर बढ़ने लगीं। पाकिस्तान की सेना इन सब क्षेत्रों से तेज़ी से खदेड़ी जाने लगी।

यदि यह अभियान निर्विघ्न चलता रहता तो शीतकाल खत्म होने तक मुजफ्फराबाद के अतिरिक्त जम्मू प्रान्त का पश्चिमी भाग भी मुक्त करा लिया जा सकता था ।

परन्तु नेहरू और अब्दुल्ला को यह मंजूर नहीं था । १ जनवरी, १९४६ को अकस्मात् पं० नेहरू ने युद्धबन्दी की घोषणा कर दी । यह भी एक भयानक भूल थी । उस समय भारत की सेना अपने सुरक्षात्मक मोर्चे छोड़कर आगे बढ़ रही थी । उसने कुछ लक्ष्य निर्धारित किये थे । यदि सैनिक नेताओं से युद्धबन्दी करने से पहले सलाह की गई होती तो युद्धबन्दी की घोषणा उस समय होती जब भारत की सेना सुरक्षा की दृष्टि से उपयुक्त नए मोर्चा-स्थलों तक पहुँच जाती । इस असामयिक युद्धबन्दी की घोषणा से यह स्पष्ट हो गया कि भारत की विदेश नीति और सुरक्षा नीति में कोई तालमेल नहीं है ।

पं० नेहरू ने युद्धबन्दी की घोषणा उस समय क्यों की इसके विषय में निश्चित जानकारी के अभाव में दो सम्भव कारण बताए जाते हैं । पहला यह कि पंडित नेहरू और शेख अब्दुल्ला कश्मीर घाटी को छोड़कर रियासत के अन्य मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों को भारत के पास रखना नहीं चाहते थे । पंडित नेहरू पाकिस्तान के निर्माता थे । उनकी रुचि केवल कश्मीर घाटी में थी । वे शायद दिल से चाहते थे कि रियासत के अन्य मुस्लिम-बहुल क्षेत्र पाकिस्तान को मिल जाएँ ।

दूसरा कारण यह था कि पं० नेहरू ने इंडोनेशिया पर हॉलैंड के आक्रमण के प्रश्न पर जनवरी, १९४६ में नई दिल्ली में एशियाई देशों का सम्मेलन बुलाया था । उस सम्मेलन से पहले वे कश्मीर में युद्धबन्दी करना चाहते थे ताकि वे उस सम्मेलन में अपने-आपको शान्ति के मसीहा के रूप में पेश कर सकें ।

कारण कुछ भी रहे हों, पाकिस्तानी सेनाओं को रियासत से खदेड़े बिना यह युद्धबन्दी पाकिस्तान के लिए एक बड़ी कूटनीतिक और सैनिक विजय थी । भारत द्वारा कश्मीर के मामले में संयुक्त राष्ट्रसंघ में जाने से जम्मू-कश्मीर के प्रश्न का, जो उस समय केवल पाकिस्तान के सैनिक आक्रमण को खत्म करने का प्रश्न था, राजनीतिकरण और अन्तर्राष्ट्रीय-

करण हुआ था, वह पाकिस्तान की कश्मीर के मामले में पहली राजनैतिक और कूटनीतिक विजय सिद्ध हुई। युद्धबन्दी उसके लिए सैनिक विजय सिद्ध हुई। जम्मू-कश्मीर रियासत के तीन मुस्लिम-बहुल क्षेत्र—गिलगित, बलित्स्तान और पंजाबी भाषा-भाषी पश्चिमी क्षेत्र जिसे उसने 'आज़ाद कश्मीर' का नाम दे रखा है, उसके अधिकार में आ गए। इनका क्षेत्रफल ३० हजार वर्गमील से अधिक है और इनका बहुत बड़ा सामरिक और आर्थिक महत्त्व है। इस भाग में रहने वाले एक लाख से अधिक हिन्दुओं में से अधिकतर मार दिये गए और शेष को वहाँ से कंगाल बनाकर खदेड़ दिया गया।

इस प्रकार पाकिस्तान द्वारा भारत पर थोपे गए पहले युद्ध में अपनी कम शक्ति और कानूनी कमजोरी के बावजूद पाकिस्तान को आशातीत सफलता मिल गई। इससे पाकिस्तान के शासकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत के विरुद्ध आक्रामक रुख अपनाना लाभ का सौदा है। इससे पाकिस्तान के मुँह को लहू लग गया और उसने भारत के प्रति आक्रामक रुख अपनाने की इसकी नीति तय कर ली।

युद्धबन्दी के परिणामस्वरूप जम्मू-कश्मीर रियासत इसी तरह और लगभग उसी आधार पर खंडित हो गई जैसे अखंड भारत अगस्त, १९४७ में खंडित हुआ था।

भारत के पास जम्मू का हिन्दू-बहुल डुंगर क्षेत्र और बौद्ध-बहुल लद्दाख और मुस्लिम-बहुल कश्मीर घाटी रह गए। कश्मीर घाटी के साथ लगने वाले गैर-कश्मीरी उड़ी-टीथवाल क्षेत्र का भी कुछ भाग भारत के पास रह गया। यह पट्टी कश्मीर घाटी और पाकिस्तान-अधिकृत क्षेत्र के बीच एक प्रकार से 'बफ़र' है। बलित्स्तान का कारगिल नगर और इसके साथ लगा हुआ कुछ मुस्लिम-बहुल बलती इलाका भी भारत के पास रह गया।

सामरिक महत्त्व के गिलगित क्षेत्र के पाकिस्तान के पास रह जाने से पाकिस्तान के लिए पश्चिमी राष्ट्रों से अधिकाधिक समर्थन प्राप्त करने का रास्ता खुल गया। दूसरे, इसके कारण उसका चीन के सिंकियांग क्षेत्र के साथ सीधा सम्पर्क हो गया। इसका दूरगामी परिणाम निकला। पाकिस्तान और चीन के बीच नए रिश्ते कायम करने का रास्ता खुल गया।

पाकिस्तान ने गिलगित और बलित्स्तान को केन्द्रशासित क्षेत्र बना

दिया और वहाँ अमरीका और चीन की सहायता से सामरिक महत्व की सड़कों का जाल फैलाना शुरू किया। इसने गिलगित को अस्कई के साथ जोड़ दिया और इन दोनों स्थानों पर सैनिक हवाई अड्डे और छावनियाँ कायम कर दीं।

कश्मीर घाटी और गिलगित को जोड़ने वाला बुरजल दर्रा भी पाकिस्तान के हाथ में रह गया। उसके कारण पाकिस्तान द्वारा गिलगित की ओर से कश्मीर घाटी पर फिर आक्रमण करने का रास्ता साफ़ हो गया। पाकिस्तान ने एक अन्य सड़क से गिलगित को पेशावर के साथ मिला दिया। यह सड़क अब आगे चीन की सीमा तक बढ़ा दी गई है। इस प्रकार प्राचीन काल का चीन और भारत के बीच रेशम के कपड़े लाने वाले काफ़िलों का मार्ग—सिल्क रोड—फिर चालू हो गया। अब यह अति आधुनिक सड़क बन चुकी है और इस रास्ते से चीन पाकिस्तान को हर प्रकार की सैनिक सामग्री आसानी से भेज सकता है।

मुज़फ़्फराबाद, मीरपुर और युद्ध के अधिकृत क्षेत्र को मिलाकर पाकिस्तान ने एक नया राज्य बना दिया और इसे 'आज़ाद कश्मीर' का नाम दिया। यह नाम एक धोखा है। इस क्षेत्र में कश्मीर घाटी की एक इंच भूमि भी नहीं पड़ती। यह सारा पंजाबी और पहाड़ी भाषा-भाषी क्षेत्र है। इसलिए इसे 'कश्मीर' नाम देने का कोई आधार नहीं।

जहाँ तक इसके आज़ाद होने की बात है, वह भी एक ढकोसला है। पाकिस्तान का इस क्षेत्र पर पूरा अधिकार है। मुज़फ़्फराबाद में इसने एक कठपुतली सरकार बना दी जो आज तक इसके इशारों पर नाचती है। जो बात पाकिस्तान सीधे अपने नाम से नहीं कह सकता और जो काम यह सीधे स्वयं नहीं करना चाहता वह बात और काम यह इस तथाकथित 'आज़ाद कश्मीर' सरकार के द्वारा कहलवाता और करता है।

भारत के संविधान में कश्मीर-सम्बन्धी अस्थायी धारा ३७० का समावेश

युद्धबन्दी के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् ने जनमत कराने के प्रश्न को फिर प्राथमिकता देनी शुरू की। इस सम्बन्ध में मौके पर जाकर स्थिति का अध्ययन करने और जनमत के लिए व्यवस्था के लिए इसने अपने प्रतिनिधि के रूप में आस्ट्रेलिया के सर्वोच्च न्यायालय के अवकाशप्राप्त जज, सर ओवन डिकसन, को चुना। डिकसन ने कुछ देर के बाद अपनी रपट सुरक्षा परिषद् को दे दी। इसमें उसने जनमत के सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव और सुझाव रखे जिन्हें 'डिकसन प्रपोजल्स' कहा जाता है। उसके अनुसार रियासत के पाकिस्तान-अधिकृत मुस्लिम-बहुल क्षेत्र के लोगों का मत निश्चित रूप से पाकिस्तान के पक्ष में और जम्मू तथा लद्दाख के हिन्दू-बौद्ध-बहुल क्षेत्रों का मत भारत के पक्ष में है। इसलिए इन क्षेत्रों में जनमत कराने का कोई कारण नहीं। जनमत केवल कश्मीर घाटी और इसके साथ लगे क्षेत्र से ही होना चाहिए।

यह सुझाव व्यावहारिक था। इसलिए डिकसन रिपोर्ट के बाद जनमत का प्रश्न कश्मीर घाटी तक सीमित हो गया।

शेख अब्दुल्ला ने इस स्थिति का अपने पक्ष में पूरा-पूरा लाभ उठाने का फ़ैसला किया। वह जानता था कि साधारणतया कश्मीरी मुसलमानों का रुझान पाकिस्तान के पक्ष में है। इसलिए उसका प्रयत्न था कि कश्मीर घाटी को जम्मू और लद्दाख से अलग करके स्वतन्त्र राज्य बना दिया जाय। उसने इस सम्बन्ध में न्यूयार्क में अमरीका और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों के साथ भी विचार-विनिमय किया और उनका रुख उसे अनुकूल लगा। इसलिए

न्यूयार्क से लौटते हुए इंग्लैण्ड के 'डेली टेलीग्राफ़' को एक भेंट-वार्ता में उसने कहा कि कश्मीर समस्या का इसे भारत या पाकिस्तान को दिए जाने के अतिरिक्त एक तीसरा हल यह है कि इसे स्वतन्त्र राज्य बना दिया जाय। यह साक्षात्कार १९४६ के मई मास में छपा। इसे पढ़ने के बाद सरदार पटेल ने शेख अब्दुल्ला को बुलाया और उसे दो टूक भाषा में कहा कि यदि तुम स्वतन्त्रता चाहते हो तो भारत अपनी सेना कश्मीर से वापस बुला लेगा। यह सुनते ही अब्दुल्ला के तोते उड़ गए। वह जानता था कि सरदार पटेल जो कहते हैं वह करते भी हैं। भारत की सेना के निकलते ही घाटी पर पाकिस्तान अधिकार कर लेता और फिर शेख अब्दुल्ला को पाकिस्तान की किसी जेल की हवा खानी पड़ती।

इस घटना के बाद अब्दुल्ला ने अपना पैतरा बदला। उसने यह रट लगानी शुरू की कि कश्मीर घाटी के लोगों का मत भारत में विलय के लिए है लेकिन उन्हें यह आश्वस्त किया जाय कि घाटी का मुस्लिम चरित्र बना रहेगा और इसे सुरक्षा और विदेश-नीति को छोड़कर पूर्ण आन्तरिक स्वायत्तता प्राप्त होगी।

पं० नेहरू को, जो कश्मीर को अपने सैक्यूलरवाद की कसौटी समझ रहे थे और यह मानकर चल रहे थे कि जनमत की सूरत में कश्मीरी मुसलमान भारत के पक्ष में मत देंगे, अब्दुल्ला के नए पैतरे ने कठिनाई में डाल दिया। उन्हें समझ आने लगा कि कश्मीरी मुसलमान भी अन्य मुसलमानों की तरह पहले मुसलमान हैं और साधारणतया कुरान के नाम पर वे अपना मत पाकिस्तान के पक्ष में देंगे। इसलिए वे कश्मीरी मुसलमानों का मत प्राप्त करने के लिए शेख अब्दुल्ला के दबाव में आ गए। उन्होंने अब्दुल्ला की माँग मान ली। तब अब्दुल्ला ने उन माँगों के अनुरूप भारत के संविधान में एक विशेष धारा डालने पर बल दिया। पं० नेहरू इसके लिए भी तैयार हो गए। उन्होंने शेख अब्दुल्ला को विधिमन्त्री और संविधान की ड्राफ़्टिंग कमेटी के अध्यक्ष डॉ० अम्बेडकर से मिलने को कहा।

जब अब्दुल्ला ने अपना प्रस्ताव डॉ० अम्बेडकर के सामने रखा तो डॉक्टर साहब ने उसे टका-सा जबाब दिया। उन्होंने स्वयं मुझे बताया था कि उन्होंने अब्दुल्ला से कहा कि तुम चाहते हो कि भारत सरकार और

जनता कश्मीर की रक्षा करे, इसकी सारी आवश्यकताएँ पूरी करे परन्तु उसका कश्मीर पर कोई अधिकार न हो। “मैं भारत का विधिमन्त्री हूँ, तुम्हारी बातें मानना भारत से द्रोह करना होगा। इसलिए मैं संविधान में ऐसी कोई धारा डालने के पक्ष में नहीं हूँ।” स्पष्ट है कि डॉ० अम्बेडकर पं० नेहरू की अपेक्षा अच्छे राष्ट्रवादी थे।

शेख अब्दुल्ला फिर पं० नेहरू के पास गया। तब उन्होंने एक दूसरे मन्त्री गोपाल स्वामी आर्यगर को शेख के प्रस्ताव के अनुसार उपयुक्त धारा को संविधान में डालने का प्रस्ताव संविधान सभा के सामने रखने को कहा। संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों ने इसका विरोध किया। तब गोपाल स्वामी आर्यगर ने संविधान सभा को कहा कि यह धारा एक विशेष परिस्थिति के कारण संविधान में डालने की बात है, और आश्वासन दिया कि यह एक अस्थायी धारा होगी जिसे शीघ्र ही खत्म कर दिया जाएगा। इस आश्वासन के बाद ही संविधान सभा ने धारा ३७० संविधान में शामिल करने की अनुमति दी। इसी कारण यह धारा संविधान के उस अध्याय में रखी गई है जिसका शीर्षक है — ‘अस्थायी और बदली जाने वाली धाराएँ’।

इस धारा के अनुसार जम्मू-कश्मीर राज्य को अपना अलग संविधान, अलग नागरिकता कानून बनाने का अधिकार दिया गया। भारत की संसद के सुरक्षा, विदेश-नीति और संचार के अतिरिक्त अन्य विषयों पर पास किये गए कानून रियासत पर लागू नहीं होंगे और कश्मीर भारत के सर्वोच्च न्यायालय, लेखाधिकारी और चुनाव आयोग के अधिकार-क्षेत्र के बाहर होगा। इस धारा की उपधारा ३ में राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया कि वे सार्वजनिक विज्ञप्ति से इस धारा के अंश या मुकम्मल तौर पर अप्रभावी करने की घोषणा कर सकते हैं। ऐसा करने से पहले उन्हें जम्मू-कश्मीर की संविधान सभा की सहमति प्राप्त करनी होगी।

जम्मू-कश्मीर की अलग से विधान सभा रियासत का संविधान बनाकर १९५६ में विसर्जित हो गई। इसलिए अब वहाँ कोई संविधान सभा नहीं है; इसलिए उसकी सहमति प्राप्त करने का प्रश्न नहीं रहा।

इस धारा को खत्म करने की माँग बहुत देर से उठ रही है, परन्तु कांग्रेस और उससे जुड़े दल यह कह-कहकर इसका विरोध कर रहे हैं कि

रियासत का भारत के साथ विलय इस धारा के साथ जुड़ा है। यह सरासर ग़लत है। रियासत का भारत में विलय अक्तूबर, १९४७ में हुआ था जबकि यह धारा संविधान में उसके दो वर्ष बाद अक्तूबर, १९४९ में डाली गई थी।

वास्तविकता यह है कि शेख अब्दुल्ला ने यह धारा पं० नेहरू पर दबाव डालकर संविधान में कश्मीर को व्यावहारिक रूप में स्वतन्त्र राज्य बनाने के उद्देश्य से डलवाई थी। इसी कारण कश्मीर के अलग संविधान में कश्मीर के लिए अलग झंडे, अलग राज्य अध्यक्ष, जिसे सदरे रियासत का नाम दिया गया और मुख्यमंत्री को प्रधानमंत्री कहने का प्रावधान था। इस प्रकार यह धारा कश्मीर को शेष भारत से भिन्न और अलग रखने का माध्यम बन गई और इसके कारण कश्मीर के लोगों के मनों में यह भाव डाल दिया गया कि कश्मीर भारत नहीं है। इस प्रकार यह धारा कश्मीरी अलगाववाद को संवैधानिक संरक्षण प्रदान करती है। इस कारण, राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों का इसको बनाए रखने में निहित स्वार्थ पैदा हो चुका है।

रियासत के अन्दर और बाहर के राष्ट्रवादी तत्त्वों द्वारा शुरू से ही इस धारा को संविधान से निकालने की माँग उठाई जा रही है। रियासत के अन्दर इस माँग को मुख्य रूप में प्रजा परिषद् ने उठाया था। इसलिए शेख अब्दुल्ला प्रजा परिषद् को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझने लगा और उसका जम्मू तथा उसके लोगों के प्रति रवैया अधिक शत्रुतापूर्ण हो गया।

प्रजा परिषद् ने शेख अब्दुल्ला के जम्मू के प्रति भेदपूर्ण रवैये के विरोध में दिल्ली में भी अभियान चलाया। इसका नेतृत्व मैंने किया क्योंकि रियासत से अब्दुल्ला द्वारा निष्कासित किए जाने के बाद मेरा कार्यक्षेत्र दिल्ली ही बन गया था। जम्मू के कुछ कार्यकर्ता और कार्यकर्तृयाँ इस काम में सहयोग देने के लिए समय-समय पर दिल्ली आती रहीं। इनमें प्रमुख थे डॉ० ओमप्रकाश मैनी की पत्नी श्रीमती सुशीला मैनी और श्रीमती शक्ति शर्मा। हम लोग सांसदों के साथ सम्पर्क करके उन्हें जम्मू की स्थिति के विषय में बताते थे और उनसे जम्मू के लोगों की बात संसद में उठाने और भारत की कश्मीर नीति में बदल कराने के लिए आग्रह करते थे। हमें इसमें बहुत सफलता मिली।

डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के अतिरिक्त जिन सांसदों ने कश्मीर की

स्थिति को और शेख अब्दुल्ला के इरादों को समझकर हमें महत्वपूर्ण सहयोग दिया उनमें राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, डॉ० रघुवीर, शिवनलाल सक्सेना और डॉ० धर्मप्रकाश प्रमुख थे। इन सांसदों, विशेष रूप में डॉ० रघुवीर और डॉ० धर्मप्रकाश ने पं० नेहरू का आक्रोश सहकर भी हमें हर प्रकार से सहायता दी।

अंग्रेजी में लिखी मेरी पुस्तक 'कश्मीर डिवाइडेड' जो १९५० में प्रकाशित हुई और इसका हिन्दी अनुवाद 'खण्डित कश्मीर' जो १९५१ में प्रकाशित हुआ, ने भी कश्मीर की वास्तविक स्थिति और शेख अब्दुल्ला के दूषित इरादों को प्रबुद्ध लोगों तक पहुँचाने में बड़ी सहायता दी।

डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी द्वारा १८ अप्रैल, १९५० को नेहरू मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र देने के बाद भारत में एक नए राष्ट्रवादी दल के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई, जिसके परिणामस्वरूप डॉ० मुखर्जी के नेतृत्व में अक्टूबर, १९५१ में भारतीय जनसंघ का निर्माण हुआ। मैं इस नए दल के साथ इसके जन्म-काल से ही जुड़ गया। जनसंघ ने अपने घोषणापत्र में जम्मू-कश्मीर के सम्बन्ध में राष्ट्रवादी और यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। मैंने उसके बाद जम्मू प्रजा परिषद् और भारतीय जनसंघ के बीच कड़ी की भूमिका भी अदा करनी शुरू की।

१९५२ के शुरू में भारत के नए संविधान के आधार पर पहले चुनाव हुए। डॉ० मुखर्जी लोकसभा में चुने गए और उनके प्रयत्नों से लोकसभा में जनसंघ, हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद्, अकाली दल, गणतन्त्र परिषद् और कुछ स्वतन्त्र सदस्यों ने मिलकर नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी बना ली जो विपक्ष में सबसे बड़ी पार्टी बन गई। इसने कश्मीर के सम्बन्ध में जनसंघ का दृष्टिकोण अपनाया। फलस्वरूप पं० नेहरू की कश्मीर नीति का संसद में भी खुलकर विरोध होने लगा। इस प्रकार जम्मू-कश्मीर के भारत के साथ पूर्ण विलय और भारत के संविधान में से धारा ३७० हटाने का प्रश्न एक राष्ट्रीय प्रश्न बन गया।

डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी का महान् बलिदान

दिसम्बर, १९५० में सरदार पटेल का निधन हो गया। चाहे कश्मीर का मामला उनके हाथ में नहीं था तो भी गृहमन्त्री के नाते वे शेख अब्दुल्ला पर कुछ अंकुश रखे हुए थे, वह भी उनसे डरता था। उनके निधन के बाद अब्दुल्ला निरंकुश हो गया। उसका कश्मीर घाटी के पूर्ण इस्लामीकरण करने का और राष्ट्र-विरोधी तथा जम्मू और लद्दाख के प्रति दमनकारी और भेदभावपूर्ण रवैया और उग्र हो गया। उस समय तक प्रजा परिषद् का नेतृत्व पंडित प्रेमनाथ डोगरा ने संभाल लिया था और परिषद् को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का पूर्ण समर्थन मिलने लगा था, इसका प्रभाव सारे जम्मू क्षेत्र में फैल चुका था।

पं० प्रेमनाथ डोगरा के आग्रह पर १९५२ में संसद के वजट सत्र के बाद डॉ० मुखर्जी जम्मू गए। मैं उनके साथ गया। सीमावर्ती नगर कठुआ से लेकर जम्मू तक हर नगर और गाँव में उनका भव्य स्वागत हुआ। उन्होंने हर जगह हज़ारों नर-नारियों को सम्बोधित किया। सब जगह एक ही नारा गँजता था—

“एक देश में दो विधान,
एक देश में दो प्रधान,
एक देश में दो निशान,
नहीं चलेंगे, नहीं चलेंगे।”

सब जगह लोगों ने धारा ३७० को खत्म करके जम्मू-कश्मीर पर पूरी तरह भारत का संविधान लागू करने और जम्मू क्षेत्र को स्वायत्तता देने की बात डॉक्टर साहब से कही। डॉक्टर साहब लोगों के उत्साह और उनकी

देशभक्तिपूर्ण माँग से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने जम्मू के लोगों को आश्वासन दिया कि वे उनकी उचित और देशभक्तिपूर्ण माँग को मनवाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करेंगे और उसके लिए आवश्यक हुआ तो बलिदान भी देंगे।

जम्मू नगर में पहुँचने पर उन्हें शेख अब्दुल्ला का सन्देश मिला। उसने उन्हें वातचीत के लिए श्रीनगर आने का निमन्त्रण दिया। डॉ० मुखर्जी विमान द्वारा श्रीनगर गए और शेख से मिले, परन्तु वहाँ उनकी वातचीत से कुछ निकला नहीं। सार्यकाल जम्मू लौटने पर उन्होंने परेड मैदान में एक विशाल जनसभा को सम्बोधित किया और प्रजा परिषद् को जनसंघ के पूरे समर्थन का आश्वासन दिया। उसके कुछ समय बाद प्रजा परिषद् ने अपनी माँगों को मनवाने के लिए जन-आन्दोलन शुरू कर दिया।

दिसम्बर, १९५२ में भारतीय जनसंघ का पहला राष्ट्रीय अधिवेशन कानपुर में हुआ। पं० प्रेमनाथ डोगरा ने भी इसमें भाग लिया और जम्मू की स्थिति प्रतिनिधियों को बताई। वहाँ पारित एक सर्व-सम्मत प्रस्ताव के द्वारा भारतीय जनसंघ ने प्रजा परिषद् के आन्दोलन को पूर्ण समर्थन देने और इसे देशव्यापी बनाने का फ़ैसला किया। इसके लिए उसने अन्य राष्ट्रवादी संगठनों का सहयोग प्राप्त करने का भी निर्णय किया।

भारत सरकार ने जनसंघ, हिन्दू महासभा और रामराज्य परिषद् के बहुत-से कार्यकर्ताओं को निवारक नज़रबन्दी कानून के तहत नज़रबन्द कर दिया। मुझे बन्दी बनाकर अम्बाला सेंट्रल जेल में भेज दिया गया। वहीं मैंने 'जीत या हार' नाम का कश्मीर के सम्बन्ध में संस्मरणात्मक उपन्यास लिखा।

इस बीच डॉ० मुखर्जी ने संसद के अन्दर और बाहर प्रभावी ढंग से जम्मू-कश्मीर का मामला उठाया। उन्होंने इस सम्बन्ध में पं० नेहरू और शेख अब्दुल्ला को लम्बे पत्र भी लिखे जिनमें उन्होंने समस्या का तथ्यात्मक विश्लेषण किया और उनसे प्रजा परिषद् के नेताओं के साथ मिलकर समाधान खोजने की अपील की। यह पत्र-व्यवहार कई महीनों तक चलता रहा, बाद में भारतीय जनसंघ की ओर से इस पत्र-व्यवहार को पुस्तक के रूप में प्रकाशित भी किया गया। कश्मीर समस्या को समझने के लिए ये पत्र

बुनियादी दस्तावेज बन गए हैं।

अप्रैल, १९५३ के अन्त में हैबियस कॉर्प्स याचिका मन्जूर हो जाने पर मुझे रिहा कर दिया गया। दिल्ली लौटने पर मुझे प्रजा परिषद् के आन्दोलन के विषय में विस्तृत जानकारी मिली। जम्मू के कार्यकर्ताओं का आग्रह था कि डॉ० मुकर्जी स्वयं जम्मू आकर स्थिति का अध्ययन करें। मैंने डॉ० मुकर्जी से इस विषय में बात की और जम्मू जाने का प्रोग्राम बनाने को कहा। उन्होंने मेरा सुझाव मान लिया और मई के मध्य में जम्मू जाने का कार्यक्रम बनाया।

डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी के जम्मू जाने की घोषणा से दिल्ली के राजनैतिक हलकों में हलचल मच गई। कुछ लोगों ने, जिनमें श्रीमती सुचेता कृपलानी जैसे सांसद भी थे, डॉ० मुकर्जी को सलाह दी कि वे जम्मू न जाएँ। उन्होंने आशंका व्यक्त की कि पं० नेहरू उन्हें वहाँ से जीवित नहीं लौटने देंगे क्योंकि उन्हें आपके उभरते नेतृत्व से अपनी गद्दी को खतरा दिखने लगा है। एक-दो ज्योतिषियों ने भी उन्हें जम्मू न जाने को कहा परन्तु डॉ० मुकर्जी ने अपना फ़ैसला बदलने से इन्कार कर दिया।

डॉ० मुकर्जी के साथ विख्यात चिकित्सक, चिन्तक और लेखक वैद्य गुरुदत्त को भेजने का फ़ैसला किया गया। श्री गुरुदत्त उस समय दिल्ली प्रदेश जनसंघ के अध्यक्ष थे। मैं भी जालन्धर तक उनके साथ गया। अनुमान था कि रियासत में जाने के लिए परमिट न लेने के कारण डॉ० मुकर्जी को रियासत में घुसने नहीं दिया जाएगा और माधोपुर से पहले ही बन्दी बना लिया जाएगा। उन्हें जालन्धर में गुरुदासपुर ज़िले के डिप्टी कमिश्नर का इस आशय का तार भी मिला। परन्तु माधोपुर जाने पर उन्हें बन्दी बनाने की बजाय रावी का पुल पार करके जम्मू जाने दिया गया। रियासत की सीमा में दाखिल होते ही उन्हें रियासत की पुलिस ने बन्दी बना लिया। उन्हें और वैद्य गुरुदत्त को सीधे श्रीनगर ले जाकर नज़रबन्द कर दिया गया।

डॉ० मुकर्जी को रियासत में गिरफ़्तार करना एक गहरे षड्यन्त्र का अंग था। उस समय तक जम्मू-कश्मीर राज्य भारत की सुप्रीम कोर्ट के अधिकार-क्षेत्र से बाहर था। यदि डॉ० मुकर्जी को पंजाब में बन्दी बनाया

गया होता तो भारत की सुप्रीम कोर्ट उन्हें बहुत जल्दी उनकी हैबियस कॉर्प्स याचिका स्वीकार करके रिहा कर देती।

रियासत में उनकी गिरफ्तारी के विरुद्ध श्रीनगर हाईकोर्ट के सामने हैबियस कॉर्प्स याचिका पेश की गई। इस काम के लिए बैरिस्टर उमाशंकर त्रिवेदी, जो उस समय सांसद भी थे और जनसंघ के संस्थापकों में से एक थे, स्वयं श्रीनगर गए। वहाँ उन्हें पुलिस के एक बड़े अधिकारी ने मिलकर कहा कि डॉ० मुखर्जी को मारने की साजिश बन रही है इसलिए उन्हें अतिशीघ्र छुड़ाकर रियासत के बाहर ले जाना चाहिए।

श्रीनगर में डॉ० मुखर्जी की नज़रबन्दी के दौरान मौलाना आज़ाद श्रीनगर गए परन्तु वे डॉ० मुखर्जी से नहीं मिले। इससे भारत सरकार के इरादों के बारे में सन्देह और बढ़ गया।

बीस जून के लगभग जब उनकी याचिका कश्मीर हाईकोर्ट में पेश हो चुकी थी, उन्हें श्रीनगर के अस्पताल में भर्ती किया गया। याचिका पर वहस तेईस जून को हुई। श्री त्रिवेदी को विश्वास था कि डॉ० मुखर्जी को छोड़ दिया जाएगा, परन्तु न्यायमूर्ति जियालाल किलम ने अपना फ़ैसला अगले दिन सुनाने की घोषणा की।

श्री त्रिवेदी अदालत से सीधे डॉ० मुखर्जी के पास अस्पताल में गए और रात आठ बजे तक उनके साथ रहे। डॉ० मुखर्जी उस समय बिल्कुल स्वस्थ और प्रसन्नचित्त थे। उसी रात को १० बजे के लगभग डॉ० अलीजान ने उन्हें एक इंजेक्शन दिया और उसके एक घण्टे बाद डॉ० मुखर्जी ने दम तोड़ दिया।

डॉ० मुखर्जी की गिरफ्तारी के बाद मुझे फिर बन्दी बना लिया गया। हिन्दू महासभा के अध्यक्ष न्यायमूर्ति एन०सी० चटर्जी, जो उस समय सांसद भी थे, मेरे साथ ही दिल्ली जेल में बन्दी थे। रामराज्य परिषद् के अध्यक्ष स्वामी करपात्रीजी भी उसी जेल में थे। २४ जून को डॉ० मुखर्जी के निधन का समाचार मिलने पर हमें रिहा कर दिया गया।

डॉ० मुखर्जी के निधन के समाचार ने सारे देश में हड़कम्प मचा दिया। संसद में सभी दलों के नेताओं ने उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि दी और एक स्वर से माँग की कि उनकी मृत्यु की न्यायिक जाँच करवाई जाए।

डॉ० मुकर्जी की वृद्ध माता और पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री डॉ० विधान-चन्द्र राय ने भी उनसे इसी आशय की अपील की परन्तु पं० नेहरू ने जाँच करवाने से साफ़ इन्कार कर दिया। इससे यह संशय कि दाल में कुछ काला है और पं० नेहरू सचाई सामने नहीं आने देना चाहते, और पक्का हो गया।

कुछ दिनों के बाद मैं स्वयं तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने के लिए श्रीनगर गया। वहाँ मैंने सम्बन्धित नर्स तथा अन्य लोगों से बात की और जिस केमिस्ट से उस रात वह घातक इंजेक्शन लिया गया था, उसके सम्बन्धित व्यक्ति से भी मिला। अपनी जाँच-पड़ताल से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि डॉ० मुकर्जी मरे नहीं, मारे गए थे। यह एक चिकित्सक हत्या—मेडिकल मर्डर—था, स्वाभाविक मृत्यु नहीं।

डॉ० मुकर्जी ने अपने प्राणों की आहुति देकर एक वर्ष पूर्व जम्मू के लोगों को दिये गए आश्वासन को कि वे उनकी उचित माँग को मनवाने के लिए उच्चतम बलिदान देंगे, पूरा किया। डॉ० मुकर्जी का खून कश्मीर को भारत से जोड़ने वाला सीमेंट बन गया।

डॉ० मुकर्जी का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। ६ अगस्त, १९५३ को शेख अब्दुल्ला की सरकार को भंग कर उसे बन्दी बना लिया गया। बख्शी गुलाम मुहम्मद जम्मू-कश्मीर का नया मुख्यमन्त्री बना। उसके बाद अनेक पग उठाए गए जिनसे भारत का सुप्रीम कोर्ट, चुनाव आयोग इत्यादि संस्थानों का अधिकार-क्षेत्र कश्मीर तक बढ़ा दिया गया। परन्तु धारा ३७० हटाकर कश्मीर का शेष भारत के साथ पूर्ण विलय और जम्मू तथा लद्दाख को स्वायत्तता देने की माँग की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया।

शीत-युद्ध की छाया

कश्मीर के अन्दर घटित घटनाओं, जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है, के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इस काल में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों और डिकसन के सीमित क्षेत्र में जनमत सम्बन्धी सुझावों को ठण्डे बस्ते में डाल दिया। इन घटनाओं का सम्बन्ध अमरीका और रूस के बीच चलने वाले शीत-युद्ध से था।

इस शीत-युद्ध की शुरुआत तो द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद सोवियत रूस के एक महाशक्ति के रूप में उदय से ही हो गई थी। कोरिया के युद्ध समेत विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अमरीका और रूस के अपने-अपने विश्वव्यापी हितों और रणनीति के अनुसार एक-दूसरे के प्रतिकूल रुख अपनाने से यह शीत-संघर्ष उग्र होने लगा। इसके फलस्वरूप अमरीका ने नाटो सन्धि द्वारा पश्चिमी यूरोप के लोकतन्त्री देशों को अपने साथ जोड़ लिया और रूस ने वारसा सन्धि द्वारा पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों को अपने साथ बाँध लिया। इस प्रकार संसार में दो बड़े शक्ति-गुट कायम हो गए जो एक-दूसरे की काट के लिए विभिन्न उपाय अपनाने लगे। उन्हीं के अन्तर्गत अमरीका ने रूस के प्रभाव को अफ़गानिस्तान और हिन्द महासागर की ओर बढ़ने से रोकने के लिए पाकिस्तान को अपनी ओर खींचने की नीति बनाई। इसने तुर्की, ईरान और पाकिस्तान को मिलाकर 'सेंट्रल एशियन ट्रीटी ऑर्गेनाइज़ेशन' (सीटो) नामक संगठन बनाने का प्रस्ताव रखा जिसे पाकिस्तान ने स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही अमरीका ने पाकिस्तान को अति आधुनिक अस्त्र-शस्त्र देकर इसकी सैनिक शक्ति को

बढ़ाना शुरू किया।

१९५४ में जब पाकिस्तान और अमरीका के बीच हुए सैनिक सहायता समझौते का भारत-पाक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, उस समय तक कश्मीर समस्या के निपटारे के सम्बन्ध में भारत और पाकिस्तान के बीच प्रधानमन्त्री स्तर पर बातचीत के कई दौर चल चुके थे और समझौते की आशा पैदा हो रही थी। उस पर पाक-अमरीका सैनिक-सन्धि ने पानी फेर दिया। पं० नेहरू ने पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री को लिखा कि पाकिस्तान को अमरीका से हथियार मिलने से स्थिति बदल गई है। सैनिक सन्तुलन बिगड़ गया है। इसलिए अब आगे बातचीत से कोई लाभ नहीं होगा।

इस घटना के पहले से ही सुरक्षा परिषद् में कश्मीर के मामले में अमरीकी गुट पाकिस्तान का साथ दे रहा था और रूसी गुट हिन्दुस्तान का। पाकिस्तान के खुले रूप में अमरीकी गुट में शामिल हो जाने के बाद रूसी गुट और खुलकर भारत का साथ देने लगा। दोनों गुटों के सामने न भारत के और न पाकिस्तान के हितों का प्रश्न था और न उचित-अनुचित का। उनके सामने मुख्य प्रश्न अपने-अपने गुटों के अन्तर्राष्ट्रीय हितों और अन्तर्राष्ट्रीय रणनीति का था। इस प्रकार शीत-युद्ध ने पाकिस्तान और हिन्दुस्तान को भी अपनी लपेट में ले लिया और ये दोनों अमरीका और रूस के मोहरे बन गए। इस प्रकार शीत-युद्ध का साया कश्मीर पर भी पड़ने लगा।

१९५५ में सोवियत रूस के प्रधानमन्त्री मार्शल बुल्गानिन और कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव निकिता ख्रुश्चेव भारत के दौरे पर आये। वे कश्मीर भी गए। श्रीनगर में ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि सोवियत संघ कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग मानता है और यदि हिमालय की चोटियों से भारत रूस की सहायता के लिए आह्वान करेगा तो रूस तुरन्त भारत की सहायता को आएगा। यह एक बहुत महत्वपूर्ण घोषणा थी। इससे कश्मीर के मामले में भारत के दृष्टिकोण को बहुत बल मिला।

परन्तु सोवियत नेता कश्मीर में भारत की स्थिति के दुर्बल पक्ष को भी जानते थे। उन्हें अपने सूत्रों से पता लग चुका था कि कश्मीर घाटी के

अधिकांश मुसलमानों का झुकाव पाकिस्तान की ओर है। उन्हें सोवियत संघ के मुस्लिम-बहुल गणराज्यों के अनुभव के आधार पर मुसलमानों की अलगाववादी मानसिकता का ज्ञान था। इसलिए उन्होंने पं० नेहरू को सुझाव दिया कि वे कश्मीर में भारत की स्थिति को मजबूत करने के लिए दो पग उठाएँ। पहला यह कि वे कश्मीर का भारत के साथ संवैधानिक विलय पक्का करें ताकि किसी को विलय के सम्बन्ध में प्रश्न-चिह्न लगाने की गुंजाइश न रहे। दूसरा पग जो उन्होंने सुझाया वह था, कश्मीर की जनसंख्या का साम्प्रदायिक रूप बदलना। उन्होंने पं० नेहरू को कहा कि वे कश्मीर के सन्दिग्ध आस्था वाले मुसलमानों के एक बड़े अंश को भारत के अन्य भागों में बसा दें और शेष भारत से असंदिग्ध आस्था वाले भारतीयों को कश्मीर में बसाएँ। सोवियत रूस ने यह नीति अपने मुस्लिम-बहुल राज्यों के प्रति स्वयं भी अपनाई हुई थी।

ये सुझाव नए नहीं थे। सरदार पटेल भी कश्मीर के सम्बन्ध में इसी प्रकार की नीति अपनाने की वकालत करते रहे थे। मैंने भी अपनी पुस्तक 'कश्मीर डिवाइडेड' में इस प्रकार का सुझाव दिया था। पाकिस्तान अपने हिन्दू-बहुल क्षेत्रों—सिन्ध के थारपारकर ज़िला और पूर्वी पाकिस्तान के चटगाँव पहाड़ी क्षेत्र में इसी नीति पर अमल कर रहा था। परन्तु पं० नेहरू की मुस्लिम-परस्ती और अयथार्थवादिता ने उन्हें सोवियत नेताओं के इन सुझावों पर अमल नहीं करने दिया। कश्मीर के सम्बन्ध में यह इनकी एक और बड़ी भूल थी।

सोवियत रूस द्वारा खुलकर भारत का साथ देने से अमरीका का भारत के प्रति रवैया और कड़ा हो गया। फलस्वरूप बातचीत या कुछ लेने-देने के आधार पर कश्मीर समस्या के समाधान की सम्भावना और क्षीण हो गई।

इस बीच पाकिस्तान में एक बड़ा बदल आया। १९५६ में जनरल अयूब खान ने वहाँ सैनिक क्रांति करके संवैधानिक सरकार का तख्ता पलट दिया और अपने नेतृत्व में सैनिक शासन कायम कर दिया। उसे पाकिस्तान में पाँव जमाने के लिए समय चाहिए था। एक सैनिक होने के नाते वह यह भी जानता था कि समस्या का सैनिक हल निकालने का प्रयत्न उसके लिए महंगा सिद्ध हो सकता है। नहरी पानी के विवाद का भी उस पर दबाव

था। विभाजन के कारण पंजाब की धरती का ६०% भाग पाकिस्तान के हाथ में आ गया था। किन्तु पंजाब की नहरी पानी से सिंचित भूमि का ८०% भाग इसके पास था। भारतीय पंजाब के हिस्से केवल २०% सिंचित भूमि आई थी। परन्तु पंजाब की छः नदियों में से दो—सतलुज और व्यास—पूरे तौर पर भारत के अन्तर्गत आ गईं और तीन रावी, चिनाब तथा झेलम के उद्गम भारत में रह गए। रावी नदी पठानकोट के पास माधोपुर तक भारत में बहती है और माधोपुर से लेकर लाहौर के निकट तक वह भारत और पाकिस्तान के बीच की सीमा बनाती है। चिनाब नदी अपने उद्गम से लेकर जम्मू के निकट तक हिमाचल प्रदेश तथा जम्मू और कश्मीर राज्य के जम्मू क्षेत्र में बहती है। झेलम नदी अपने उद्गम से लेकर उड़ी तक कश्मीर क्षेत्र में बहती है। इस प्रकार सतलुज और व्यास के अतिरिक्त रावी, चिनाब और झेलम के पानी को भी भारत अपने प्रयोग में ला सकने और उसे पाकिस्तान में जाने से रोकने की स्थिति में था।

विश्व-बैंक ने इस विवाद को सुलझाने का प्रयत्न किया था। उसने सतलुज, व्यास और रावी के पानी पर भारत का पूरा अधिकार माना था और चिनाब, झेलम तथा सिन्धु के पानी पर पाकिस्तान का। विश्व-बैंक का यह फैसला भारत के अनुकूल नहीं था क्योंकि इन छः नदियों के कुल पानी का केवल २०% भाग सतलुज, व्यास और रावी में बहता है और शेष ८०% चिनाब, झेलम और सिन्धु में बहता है। तो भी भारत ने इसे स्वीकार कर लिया, परन्तु पाकिस्तान ने स्वीकार नहीं किया। इसलिए भारत सरकार इन नदियों के पानी का अपने क्षेत्र में इस्तेमाल करके पाकिस्तान के लिए संकट पैदा कर सकने की स्थिति में था। इसका लाभ वह कश्मीर के सम्बन्ध में अनुकूल हल निकालने के लिए भी कर सकता था।

इस स्थिति को समझते हुए जनरल अयूब ने भारत के साथ नदियों के जल के सम्बन्ध में समझौते की बातचीत शुरू की। इस मामले में भारत का हाथ ऊपर था। इसलिए भारत सरकार नदियों के जल के साथ कश्मीर समस्या को जोड़कर एक व्यापक समझौते पर बल दे सकती थी, परन्तु पं० नेहरू की अदूरदर्शिता, मुस्लिम-परस्ती और उनमें यथार्थवाद का अभाव फिर भारत के रास्ते में आड़े आया। फलस्वरूप कूटनीति में पाकिस्तान

ने फिर भारत को मात दी। १९५८ में पं० नेहरू ने कराची जाकर जिस सिन्धु घाटी जल-सन्धि पर हस्ताक्षर किए, वह विश्व बैंक के फ़ैसले की अपेक्षा पाकिस्तान के लिए अधिक अनुकूल थी। भारत सरकार ने न केवल चिनाब, झेलम और सिन्धु नदी के पानी पर पाकिस्तान का पूरा अधिकार स्वीकार कर लिया अपितु इसने इन नदियों के पानी से अपने क्षेत्र में पन बिजली बनाने के अपने अधिकार को भी सीमित कर लिया। साथ ही सतलुज और रावी की भारत में पड़ने वाली नहरों के बदले में पाकिस्तान को नई नहरें बनाने के लिए ५८ करोड़ रुपया भी देना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार न केवल कश्मीर समस्या का हल निकालने का एक अच्छा अवसर खो दिया गया अपितु भारत ने झेलम और चिनाब के पानी के अपने क्षेत्र में उचित प्रयोग का अधिकार भी छोड़ दिया।

स्वाभाविक रूप में भारत के प्रधानमन्त्री की इन भूलों से पाकिस्तान में जनरल अयूब की स्थिति मजबूत हो गई। इसके बाद उसने भारत के प्रति फिर आक्रान्ता रुख अपनाना शुरू किया।

इसी बीच भारत के चीन के साथ सम्बन्ध बिगड़ने लगे। पाकिस्तान ने इस स्थिति का लाभ उठाने का फ़ैसला किया। इस प्रकार भारत-पाक-सम्बन्धों और कश्मीर समस्या में चीन ने भी अपनी टांग अड़ानी शुरू कर दी। १९६१ के बाद चीन की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण बन गई और इसका भारत की कश्मीर-सम्बन्धी स्थिति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगा।

पाक-चीन गठजोड़ और कश्मीर चीन की भूमिका

चीन प्राचीन काल से ही एक विस्तारवादी देश रहा है। चीन की दीवार, जो कभी इसके शासकों ने चीन को मध्य एशिया से होने वाले आक्रमणों से बचाव करने के लिए बनाई थी, चीन की पश्चिमी सीमा थी। बाद में इसके शासकों ने उससे आगे बढ़कर मध्य एशिया के बड़े भाग और तिब्बत पर अपना आधिपत्य स्थापित करने या इसे अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने का सफल प्रयत्न किया। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में चीन भी एशिया के अन्य देशों की तरह यूरोप के उपनिवेशवादी देशों की जकड़ में आ गया। फलस्वरूप तिब्बत और कई अन्य क्षेत्र इसके प्रभाव-क्षेत्र से निकल गए। १९११ की चीन की क्रान्ति और वहाँ पर क्यू मांग तांग पार्टी का शासन कायम होने पर इसने इन क्षेत्रों पर फिर अपना दावा जताना शुरू कर दिया परन्तु उस काल में यह अपने दावों को मूर्त रूप देने की स्थिति में नहीं था। १९४८ में चीन में कम्युनिस्ट क्रान्ति माओत्से-तुंग के नेतृत्व में सफल हुई और सारा चीन, फ़ारमोसा (ताइवान) द्वीप को छोड़कर कम्युनिस्ट शासन के अन्तर्गत आ गया। सोवियत रूस ने कम्युनिस्ट चीन को तुरन्त मान्यता दी और चीन कम्युनिस्ट गुट का अंग बन गया। अमरीका ने तब चीनी विस्तारवाद को भी रोकने का निश्चय किया।

चीन के कम्युनिस्ट शासन को उस समय भारत के द्वारा मान्यता और समर्थन की अत्यन्त आवश्यकता थी। यदि भारत की विदेश नीति के निर्धारक, पं० नेहरू, उस समय थोड़ी-सी भी दूरदर्शिता, यथार्थवाद और राष्ट्रभावना का परिचय देते तो चीन और भारत के बीच तिब्बत को

स्वतन्त्र बफ़र के रूप में मान्यता दिलाकर भारत और चीन के बीच किसी प्रकार के क्षेत्रीय विवाद के उठने की सम्भावना को सदा के लिए समाप्त कर सकते थे। परन्तु हुआ इसके बिल्कुल विपरीत। पं० नेहरू ने “जहाँ बुद्धिमान पाँव रखने में झिझकते हैं वहाँ मूर्ख लोग भागकर घुस जाते हैं” लोकोक्ति के अनुरूप आचरण किया। उन्होंने बिना तिब्बत की स्वतन्त्रता का आश्वासन लिए पहले कम्युनिस्ट चीन को मान्यता दे दी और बाद में उसे तिब्बत को अपने पैरों तले रौंदने की खुली छूट भी दी। यह भारत का न केवल तिब्बत के साथ विश्वासघात था अपितु अपने हितों पर स्वयं कुठाराघात भी था। यदि उस समय भारत तिब्बत के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ में उठाता, तिब्बत को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने का प्रस्ताव रखता और स्वयं तिब्बत के साथ अपनी संधियों के अनुरूप तिब्बत की चीनी-आक्रमण से बचाव के लिए सक्रिय सहायता देता तो चीन का कश्मीर के मामले में टाँग अड़ाने और भारत पर आक्रमण करने का अवसर ही न आता। उस समय तिब्बत की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए किये गए बलिदान न केवल तिब्बत को नर-संहार से बचा लेते अपितु १९६२ में अपने हज़ारों जवानों की निरर्थक बलि भी न देनी पड़ती। पं० नेहरू की तिब्बत के मामले में यह भूल भारत के लिए अत्यधिक खतरनाक और विनाशकारी सिद्ध हुई।

अप्रैल, १९५४ में पं० नेहरू ने चीन के प्रधानमंत्री चाउ-एन-लाई के साथ तथाकथित ‘पंचशील’ संधि पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार भारत ने तिब्बत को चीन का अंग स्वीकार कर लिया। इतिहास और भारत-हित के प्रतिकूल यह फ़ैसला करके पं० नेहरू ने भारत-तिब्बत सीमा को भारत-चीन सीमा बना दिया और भावी सामंजस्य के लिए कोई स्पष्ट आश्वासन भी नहीं लिया।

हिमालय पर्वत भारत और तिब्बत के बीच सीमा बनाता है। इस सीमा के पूर्वी भाग को मैकमोहन लाइन कहते हैं क्योंकि मैकमोहन नाम के ब्रिटिश अधिकारी ने इसका सर्वेक्षण किया था। पं० नेहरू के अनुसार उन्होंने श्री चाउ-एन-लाई के साथ इस मामले में भी बात की थी और श्री चाउ-एन-लाई ने मौलिक रूप में इस लाइन को भारत-तिब्बत सीमा माना था। परन्तु इस बात का उल्लेख संधि में नहीं किया गया। फलस्वरूप

बाद में चीन को इस रेखा को सीमा मानने से मुकरने में रस्ती-भर झिझक और कठिनाई नहीं हुई।

तिब्बत में अपने पाँव जमाने के बाद चीन ने तिब्बत को सिंकियांग से मिलाने के लिए भारत के लद्दाख क्षेत्र के अकसाईचिन भाग में से होती हुई सड़क बना ली और उसके साथ-ही-साथ भारत के लद्दाख क्षेत्र पर भी अपना दावा करना शुरू कर दिया। जब भारत ने अपना विरोध प्रकट किया तो चीन के विदेशमन्त्री ने १९५६ में पं० नेहरू को लिखा कि “भारत को याद रखना चाहिए कि वह एक समय दो मोर्चों पर नहीं लड़ सकता।” यह चीन द्वारा पाकिस्तान के साथ भारत के विरुद्ध गठजोड़ करने का पहला संकेत था। इसके पूर्व १९५६ में पाकिस्तान के तब के प्रधानमन्त्री श्री हसन शहीद सुहरावर्दी ने अपनी पीकिंग-यात्रा के दौरान अनौपचारिक रूप में चीनी नेताओं के सामने भारतीय कश्मीर के विभाजन की एक योजना रखी थी जिसमें कश्मीर घाटी पाकिस्तान को, लद्दाख चीन को और जम्मू क्षेत्र भारत के पास रहने देने का सुझाव था। इसी यात्रा में ही भावी चीन-पाकिस्तान मित्रता की नींव रखी गई थी। जब भारत ने अकसाईचिन क्षेत्र में चीन की घुसपैठ का विरोध किया, लगभग उसी समय पाकिस्तान ने गिलगित क्षेत्र में चीन की रियासत के पाक-अधिकृत भाग का लगभग दो हज़ार वर्गमील क्षेत्र देकर उसे मित्र बनाने का फ़ैसला किया। ज्यों-ज्यों भारत और चीन में तनाव बढ़ता गया पाकिस्तान चीन के निकट होता गया। १९६२ में चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर आक्रमण किया तो पाकिस्तान अमरीकी गुट का सदस्य होते हुए भी चुप रहा और इसके समाचार-पत्रों ने खुलकर चीन का समर्थन किया। पाकिस्तान का यह रुख अमरीका के लिए भी अनपेक्षित था। अमरीका इस समय चीन का भी घोर विरोधी था और चीनी कम्युनिस्ट विस्तारवाद को रोकने में उसकी उतनी ही गहरी रुचि थी जितनी कि रूसी विस्तारवाद को रोकने में।

दूसरी ओर पं० नेहरू के लिए चीन का आक्रमण आँखें खोलने वाला था। एक ‘समाजवादी’ देश भी साम्राज्यवादी देशों की तरह विस्तारवादी और आक्रमणकारी हो सकता है, यह उनकी समाजवाद की कल्पना के बिल्कुल विपरीत था। इसीलिए उन्हें कहना पड़ा कि “हम अपनी कल्पना के

कृत्रयी जगत् में रह रहे थे।”

जब चीनी सेनाएँ हिमालय पार करके तेज़ी से ब्रह्मपुत्र की घाटी की ओर बढ़ने लगीं तब पं० नेहरू का दम फूलने लगा। उन्होंने दिनों लेखक द्वारा यह पूछे जाने पर कि चीन की सेनाएँ इतनी तेज़ी से कैसे आगे बढ़ रही हैं? उन्होंने निराशा-भरे स्वर में उत्तर दिया था, “चीनी सेना के पास बेहतर अस्त्र-शस्त्र हैं। उनके जवान स्वचालित बन्दूकों से लैस हैं, जबकि हमारे जवानों के पास ३०३ बन्दूकें हैं। चीन के मार्टर, हमारे मार्टरों की अपेक्षा बहुत अधिक दूरी पर गोला फेंक सकते हैं।” पं० नेहरू, जो लोकसभा में सैनिक शक्ति बढ़ाने की मेरी बात पर आग-बबूला हो जाया करते थे और जो यह कहते नहीं थकते थे कि भारत को चाहे लाठियों से ही क्यों न लड़ना पड़े, वह किसी अन्य देश से सैनिक सहायता नहीं लेगा, के ये शब्द सुनकर मुझे उन पर दया भी आई थी और क्रोध भी। और जब उनके प्रिय मित्र रूस ने यह कहकर कि उसे ‘भाई’ चीन और ‘मित्र’ भारत में लड़ाई पर खेद है, आवश्यकता के समय भारत से आँखें मोड़ लीं, तब पं० नेहरू को ब्रिटेन और अमरीका से सैनिक सहायता की याचना करनी पड़ी।

जिस द्रुतगति से अमरीका और ब्रिटेन ने भारत की अपील पर सैनिक सहायता भेजी, उसके लिए भारत सदा उनका आभारी रहेगा, परन्तु उस संकट के समय में उन्होंने भारत पर कश्मीर के मामले में कुछ ले-देकर पाकिस्तान से सुलह-सफ़ाई करने पर भी बल दिया। भारत उस समय उनके आग्रह को टालने की स्थिति में नहीं था। फलस्वरूप विदेशमन्त्री स्तर पर भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर के सम्बन्ध में सीधी वार्ता शुरू हुई। भारत ने पाकिस्तान को तुष्ट करने के लिए कश्मीर घाटी का उत्तरी भाग और जम्मू क्षेत्र का पुछ नगर और आसपास का मुस्लिम-बहुल क्षेत्र पाकिस्तान को देने की पेशकश भी की। परन्तु पाकिस्तान उस समय पूरी कश्मीर घाटी के अतिरिक्त जम्मू के भी बड़े भाग लेने से कम पर कोई फ़ैसला करने को तैयार नहीं था। उसके विदेशमन्त्री श्री भुट्टो ने भारत के विदेशमन्त्री श्री स्वर्णसिंह से स्पष्ट कहा था कि भारत को यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत एक हारा हुआ देश है। कश्मीर के बड़े भाग को पाकिस्तान को देने की बात का पता लगने पर मैं विदेशमन्त्री श्री स्वर्णसिंह

से मिला और उनसे पूछा कि क्या यह सत्य है कि भारत कश्मीर की घाटी का बँटवारा करके उसका एक भाग और पुँछ क्षेत्र पाकिस्तान को देने को तैयार हो गया है। इसके उत्तर में उन्होंने मुझसे पंजाबी में कहा, “अपने दाने वेख के ई गल कीती जाँदी ए।” अर्थात् अपनी शक्ति के आधार पर ही बातचीत होती है। इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट मान लिया कि चीन से पिट जाने और अमरीका तथा ब्रिटेन की सहायता पर निर्भर होने के कारण भारत को पाकिस्तान के आगे झुकना पड़ रहा है।

परन्तु इस बातचीत के सिरे चढ़ने से पहले ही चीन ने अपनी ओर से युद्धबन्दी की घोषणा कर दी। इसके पीछे चीन का क्या हेतु था, निश्चित रूप में कहना कठिन है। जानकार सूत्रों के अनुसार चीन नहीं चाहता था कि पं० नेहरू, जिनकी स्थिति डाँवाडोल और दयनीय हो रही थी, को सत्ता से हटना पड़े। वह पं० नेहरू का भारत का प्रधानमन्त्री बना रहना भारत में कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रचार और प्रसार के लिए और भारत को कम्युनिस्ट देशों के गुट में रखने के लिए आवश्यक समझता था।

चीन द्वारा युद्धबन्दी की घोषणा के बाद भारत ने कश्मीर के मामले में फिर कड़ा रुख अपनाया और पाकिस्तान के साथ वार्ता भंग हो गई।

इस घटना-चक्र से पाकिस्तान के तानाशाह जनरल अयूब खाँ को विश्वास हो गया कि सैनिक दबाव के बल पर ही भारत को कश्मीर छोड़ने के लिए विवश किया जा सकता है। अतः उसने कश्मीर हथियाने के लिए एक और आक्रमण की तैयारी शुरू कर दी।

इस प्रकार चीन से युद्ध ने कश्मीर समस्या को एक नया आयाम दिया। इससे पाकिस्तान को शह मिली। उसने समझा कि भारत की सैनिक शक्ति क्षीण हो चुकी है इसलिए वह पाकिस्तान की सेना का मुकाबला नहीं कर सकेगा। १९६५ का भारत-पाक युद्ध एक दृष्टि से १९६२ के भारत-चीन युद्ध में भारत की पराजय का ही एक फलितार्थ था।

नेहरू का अन्तिम प्रयास

१९६२ में चीन के आक्रमण और भारत की अपमानजनक पराजय के कई दूरगामी परिणाम निकले। उनमें से एक था पं० नेहरू की छवि का टूटना और उनका शारीरिक अन्त।

पं० नेहरू के मन को चीन के आक्रमण से जो आघात लगा उसने उनके शरीर को भी आहत कर दिया। उनका स्वास्थ्य तेज़ी से गिरने लगा और उन्हें यह अहसास होने लगा कि उनका अन्तिम समय निकट आ रहा है। अपनी आँखें बन्द होने से पूर्व वे अपने दो अरमान, दो आकांक्षाएँ पूरी करना चाहते थे। एक था अपनी इकलौती पुत्री इन्दिरा के लिए अपनी गद्दी तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करना और दूसरा था शेख अब्दुल्ला के साथ अपने पुराने रिश्ते फिर जोड़ना और कश्मीर समस्या का उसकी इच्छा के अनुकूल हल निकालना। इन दोनों की पूर्ति के लिए उन्होंने तथाकथित 'कामराज योजना' का आसरा लिया।

शेख अब्दुल्ला इस समय जेल में था। उस पर भारत के विरुद्ध पाकिस्तान के साथ मिलकर षड्यन्त्र करने का महाभियोग चल रहा था। यह मुकदमा कई वर्षों से चल रहा था और उस पर भारत सरकार करोड़ों रुपये खर्च कर चुकी थी। शेख अब्दुल्ला के विरुद्ध ठोस प्रमाण मिल चुके थे। लगता था कि विशेष अदालत उसे कड़ा दंड देगी। पं० नेहरू इस घड़ी को टालना चाहते थे और अपने जीवनकाल में ही अब्दुल्ला को दोषमुक्त करके फिर गले लगाना चाहते थे। इस इच्छा की पूर्ति के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट बखशी गुलाम मोहम्मद था। बखशी ने शेख अब्दुल्ला के १९५३ के षड्यन्त्र को विफल करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी और तभी से वह

जम्मू-कश्मीर का मुख्यमन्त्री चला आ रहा था। रियासत की विधानसभा में उसे भारी बहुमत प्राप्त था, इसलिए उसे हटाना आसान नहीं था और उसके मुख्यमन्त्री रहते शेख अब्दुल्ला के विरुद्ध अभियोग को वापस लेना कठिन था।

पं० नेहरू के सौभाग्य से कामराज योजना के अन्तर्गत बखशी गुलाम मोहम्मद ने भी अपने पद से त्यागपत्र देने की पेशकश कर दी। यह अपेक्षित नहीं था क्योंकि यह योजना मुख्य रूप में केन्द्रीय मन्त्रिमंडल के सदस्यों के लिए बनाई गई थी और प्रादेशिक मन्त्रियों को इसके अन्तर्गत त्यागपत्र देने की बात नहीं थी। पं० नेहरू ने बखशी की पेशकश को तुरन्त स्वीकार कर लिया। बखशी के मुख्यमन्त्री-पद से हट जाने के बाद अप्रैल, १९६४ में शेख अब्दुल्ला के विरुद्ध चल रहा अभियोग वापस ले लिया गया और उसे मुक्त कर दिया गया।

शेख अब्दुल्ला के रिहा होने के तुरन्त बाद पं० नेहरू ने उसे दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया। परन्तु दिल्ली जाने से पूर्व शेख अब्दुल्ला कश्मीर गया। यहाँ उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। वह समझ गया कि उसका कश्मीर की मुस्लिम जनता पर प्रभाव पूर्ववत् है। उसके बाद वह दिल्ली और पं० नेहरू के सरकारी आवास पर उनके निजी अतिथि के रूप में ठहरा।

शेख अब्दुल्ला ने अपनी जीवनी में ग्यारह वर्षों के बाद पं० नेहरू के पास मई, १९६४ में अपनी भेंट का विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार पं० नेहरू ने उसे प्रधानमन्त्री के नाते अपनी मजबूरियाँ बताते हुए उससे बीती बातों को भूलने और मित्रता का नया दौर शुरू करने का अनुरोध किया। उन्होंने कश्मीर समस्या का स्थायी और सर्वमान्य हल ढूँढ़ने की बात भी कही। शेख अब्दुल्ला ने उनसे कहा कि वह ऐसा हल चाहता है जो पाकिस्तान को भी स्वीकार हो और जो कश्मीर के लोगों की स्वतन्त्रता की आकांक्षा को भी पूरा करे और जिससे भारत के सैक्यूलरिज्म पर भी आँच न आए। उसने पं० नेहरू को सुझाव दिया कि वे पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल अयूब ख़ाँ को नई दिल्ली आकर सीधी बातचीत करने का निमन्त्रण दें। शेख अब्दुल्ला के अनुसार पं० नेहरू ने उसका सुझाव स्वीकार कर

लिया और उसे स्वयं इस्लामाबाद जाकर उनका निमन्त्रण राष्ट्रपति अयूब को देने को कहा। इसी बीच शेख अब्दुल्ला को राष्ट्रपति अयूब ख़ाँ का पाकिस्तान आने का सीधा निमन्त्रण भी मिला। लगता था कि वह दिल्ली आने से पहले पाकिस्तान के शासकों के साथ भी सम्पर्क स्थापित कर चुका था और यह निमन्त्रण उसी का परिणाम था।

१४ मई, १९६४ को शेख अब्दुल्ला ने दिल्ली से इस्लामाबाद के लिए प्रस्थान किया। उसके साथ उसके अन्य साथियों के साथ उसका ज्येष्ठ पुत्र डॉ० फ़ारूक अब्दुल्ला भी गया। इस्लामाबाद में उसका राजसी स्वागत किया गया।

राष्ट्रपति अयूब के साथ उसने विस्तृत वार्ता की और उसे दिल्ली आने का पं० नेहरू का निमन्त्रण भी दिया। अयूब ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और जून मास में दिल्ली आने की तिथि भी तय हो गई।

शेख अब्दुल्ला की राष्ट्रपति अयूब से क्या बात हुई और कश्मीर के सम्बन्ध में उसने अयूब के सामने क्या योजना रखी उसकी कोई अधिकृत जानकारी प्राप्त नहीं है। शेख अब्दुल्ला ने अपनी जीवनी में भी इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला। परन्तु जानकार सूत्रों के अनुसार इस योजना के अनुसार कश्मीर घाटी में जम्मू और लद्दाख से अलग करके ऐसा व्यावहारिक राजनैतिक ढाँचा कायम करना था जो पाकिस्तान को भी स्वीकार्य हो और जिसके अन्तर्गत पाकिस्तान के लिए भी घाटी के द्वार खुल जाएँ।

इस्लामाबाद से शेख अब्दुल्ला तथाकथित आज़ाद कश्मीर की राजधानी मुज़फ़्फराबाद गया। वहाँ भी उसका भव्य स्वागत हुआ। कश्मीर घाटी के लिए मुज़फ़्फराबाद क्षेत्र का विशेष महत्त्व है। कश्मीर घाटी को पाकिस्तान में स्थित रावलपिंडी और हवेलियाँ से रेल स्टेशनों से जोड़ने वाली सभी सड़कें इस क्षेत्र से होकर जाती हैं। इसलिए अब्दुल्ला मुज़फ़्फराबाद को विशेष रूप में कश्मीर के साथ रखना चाहता था।

मुज़फ़्फराबाद में ही शेख अब्दुल्ला को २७ मई को नई दिल्ली में पं० नेहरू के निधन की सूचना मिली। उसके लिए यह एक बड़ा आघात था। इस समाचार ने उसकी उम्मीदों पर पानी डाल दिया। वह मुज़फ़्फराबाद से ही पं० नेहरू की शवयात्रा में भाग लेने के लिए दिल्ली लौट आया।

इस प्रकार पं० नेहरू का शेख अब्दुल्ला के सहयोग से और उसकी इच्छा के अनुरूप कश्मीर समस्या का कोई हल निकालने का अन्तिम प्रयास बीच में ही खत्म हो गया। उनकी और अब्दुल्ला की योजना कुछ और थी और नियति की योजना कुछ और थी।

पं० नेहरू के निधन से स्वतन्त्र भारत के जीवन में नेहरू युग के अन्त की शुरुआत हो गई। पं० नेहरू जानते थे कि कश्मीर समस्या के वे जनक हैं। हिन्दुस्तान की ५०० से अधिक देशी रियासतों में से केवल जम्मू-कश्मीर का मामला ही उनके अधिकार-क्षेत्र में था। हैदराबाद का मामला १९४८ में उनके हाथ से निकलकर सरदार पटेल के हाथ में चला गया था। सरदार पटेल ने हैदराबाद समेत सभी रियासतों का खण्डित भारत में पूर्ण विलय करके खण्डित भारत को अखण्ड रखने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इसके कारण उनका नाम भारत के इतिहास में सदा के लिए सुरक्षित हो चुका है। जम्मू-कश्मीर का मामला ठीक ढंग से निपटाने की जिम्मेदारी पं० नेहरू ने ली थी। उनकी एक प्रशासक और राजनेता के नाते छवि और क्षमता की कश्मीर एक प्रकार से कसौटी बन गया था। सम्भवतः इसी कारण वे मरने से पहले इसका कोई हल निकालना चाहते थे। वे ऐसा न कर सके। कश्मीर का मामला आज भी गले में फँसी हड्डी की तरह भारत के लिए सिरदर्द बना हुआ है। पं० नेहरू की कश्मीर नीति की विफलता उनकी अनेक विफलताओं में एक प्रमुख विफलता है।

पं० नेहरू के निधन से एक नई स्थिति पैदा हुई। नए प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रवादी और यथार्थवादी थे। वे शेख अब्दुल्ला और उसके कश्मीर के अनुयायियों की मनोभावना को बेहतर जानते और समझते थे। उनका शेख अब्दुल्ला के प्रति किसी प्रकार का मोह नहीं था।

पं० नेहरू के निधन के बाद अब्दुल्ला परिवार सहित हज-यात्रा के लिए मक्का गया। हज के बाद उसने विभिन्न मुस्लिम देशों का दौरा किया और उनके राजप्रमुखों से मिला। अल्जीरिया की राजधानी अलजपर में उसने चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई से भी लम्बी वार्ता की। इसने कश्मीर को मुक्त कराने के लिए अल्जीरिया जैसा मुक्ति-संघर्ष शुरू करने का भी संकेत दिया। इससे भारत सरकार चौंकी। इसने शेख अब्दुल्ला को तुरन्त

भारत लौटने का आदेश दिया। दिल्ली पहुँचने पर उसे बन्दी बना लिया गया और दिल्ली में एक बंगले में नज़रबन्द कर दिया गया।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब ने इस घटना से समझ लिया कि कश्मीर-सम्बन्धी अब्दुल्ला-नेहरू योजना आगे नहीं बढ़ेगी। इसलिए उसने सैनिक शक्ति के बल पर कश्मीर को हथियाने का एक और प्रयत्न करने का मन बना लिया। १९६५ का युद्ध इसका परिणाम था।

१९६५ का युद्ध

सोवियत रूस का बदलता रुख और लाल बहादुर शास्त्री की रहस्यमयी मृत्यु

श्री लाल बहादुर शास्त्री का प्रधानमन्त्री बनना भारतीय लोकतन्त्र की एक बड़ी सफलता थी। एक निर्धन परिवार में जन्म लेने वाला नाटा और सीधा-सादा व्यक्ति भारत का प्रधानमन्त्री बन सकता है, यह देश-विदेश में बहुतों के लिए अनपेक्षित घटना थी। कामराज योजना के अन्तर्गत सोरारजी देसाई जैसे कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं का मन्त्रिमण्डल से हट जाना, कांग्रेस के उस समय के कर्णधारों द्वारा ऐसा प्रधानमन्त्री चुनने की चाह जो उनकी इच्छानुसार काम करे और नेहरू-भक्तों की ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री बनाने की इच्छा से, जो इन्दिरा गांधी के आगे आने में सहायक हो सके, जैसी घटनाएँ और परिस्थितियाँ श्री शास्त्री को आगे लाने में सहायक बनीं।

प्रधानमन्त्री बनने से पहले श्री शास्त्री केन्द्र में गृहमन्त्री थे। इस नाते उन्हें कश्मीर की स्थिति और अब्दुल्ला के इरादों की जानकारी प्राप्त हो चुकी थी। १९६३-६४ के शीतकाल में श्रीनगर की हज़रतबल मस्जिद से मोहम्मद साहिब की मूँछ के बाल के रहस्यमय ढंग से गायब होने और फिर वहीं लौट आने की घटना और उसके साथ जुड़े कश्मीर घाटी में हुए हिंसक उपद्रव को श्री शास्त्री ने अपनी आँखों से देखा था। इससे उन्होंने कश्मीरी मुसलमानों की मानसिकता को समझ लिया था और उनके मन में उनके तथाकथित 'सैक्यूलरिज़्म' और 'भारत-प्रेम' के सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं था। इसलिए उन्होंने शेख अब्दुल्ला को पुनः बन्दी बनाने में ज़रा भी हिच-

किचाहट नहीं दिखाई। इस बार शेख अब्दुल्ला एक बार फिर कश्मीर की तस्वीर से बाहर हो गया।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल अयूब को इस घटना-चक्र ने चौंका दिया। वह समझ गया कि शास्त्री नेहरू नहीं हैं और वे अब्दुल्ला का खेल नहीं खेलेंगे। साथ ही वह यह भी जानता था कि चीन के हाथों पराजय से भारत की सैनिक शक्ति क्षीण हो चुकी है और उसकी सेनाओं का मनोबल टूट चुका है। दूसरी ओर पाकिस्तान की स्थिति उस समय तुलनात्मक दृष्टि से बहुत मजबूत थी। अमरीका से पाकिस्तान को अद्यतन सैनिक सामग्री मुफ्त में या सस्ते दामों पर मिल रही थी। उसमें पैटन टैंक भी शामिल थे जो उस समय संसार में सबसे उत्तम टैंक माने जाते थे। अमरीका के साथ अपने रिश्तों को कायम रखते हुए अयूब ने सोवियत रूस के साथ भी सम्बन्ध सुधारने का सफल प्रयत्न किया था। वह मास्को की यात्रा कर आया था। उस समय रूस और चीन में तनाव बढ़ रहा था और पाकिस्तान और चीन के बीच तालमेल बढ़ रहा था। १९६३ में पाकिस्तान ने चीन के साथ सीमा-सन्धि भी कर ली थी जिसके अनुसार इसने जम्मू-कश्मीर के पाक-अधिकृत क्षेत्र का लगभग २,००० वर्गमील भाग चीन को दे दिया था और चीन और पाकिस्तान को मिलाने के लिए गिलगित के रास्ते एक नई सड़क बनाने की योजना भी बन चुकी थी। रूस चाहता था कि पाकिस्तान पूरी तरह चीन के साथ न मिल जाए। इसलिए उसने पाकिस्तान को अपने निकट लाने के लिए पाकिस्तान और भारत के बीच तटस्थता का रुख अपनाना शुरू कर दिया था।

जनरल अयूब ने अपनी इस नीति का विस्तृत उल्लेख अपनी जीवनी 'फ्रेंड्स नॉट मास्टर्स' में किया है। उसके अनुसार पाकिस्तान तीन बड़ी शक्तियों—रूस, चीन और भारत—से घिरा हुआ है। क्योंकि इन तीनों में से भारत के साथ सम्बन्ध सुधारना कठिन था इसलिए उसने चीन और रूस के साथ सम्बन्ध सुधारने का सफल प्रयत्न किया। इस प्रकार १९६४ में सैनिक और कूटनीतिक दृष्टि से पाकिस्तान बेहतर स्थिति में आ चुका था।

अयूब के मूल्यांकन के अनुसार लाल बहादुर शास्त्री की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति नेहरू की अपेक्षा दुर्बल थी। उन्हें पाँव जमाने में कुछ

समय लगेगा। उसे यह भी पता था कि चीन से पराजय के बाद भारत सरकार ने अपनी सुरक्षा की ओर अधिक ध्यान देना शुरू किया है और वह विदेशों से नए अस्त्र-शस्त्र खरीद रहा है। परन्तु उसकी सेना के आधुनिकीकरण में समय लगना है। वह चाहता था कि श्री शास्त्री के पाँव जमाने के और भारत की सैनिक शक्ति बढ़ने से पहले-पहले वह सैनिक हल्ला मारकर कश्मीर को हथिया ले।

कश्मीर पर आक्रमण करने से पहले उसने गुजरात प्रदेश के कच्छ क्षेत्र में शक्ति-परीक्षा का फ़ैसला किया। कच्छ का दलदली उपद्वीप कच्छ रियासत का, जिसका १९४७ में भारत के साथ विलय हो चुका था, भाग था। यह सिन्धु नदी के दहाना के साथ लगता है। इसका बड़ा भाग बरसात में समुद्र के पानी से ढँक जाता है। केवल ऊँचे स्थल, जिन्हें स्थानीय भाषा में 'वेट' कहा जाता है, बच जाते हैं। वहाँ घास उगती है।

भारत सरकार को इधर से पाक आक्रमण की कोई सम्भावना नहीं दिखती थी इसलिए इसकी सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था।

खनिज तेल होने की सम्भावना से इस क्षेत्र का महत्त्व कुछ बढ़ गया था। परन्तु उस दृष्टि से किसी प्रकार का सर्वेक्षण वहाँ नहीं हुआ था।

१९६५ के शुरू में पाकिस्तान ने इस क्षेत्र पर अपना दावा पेश कर दिया। यह दावा बिल्कुल निर्मूल था। कच्छ और भारत के मानचित्रों में यह सारा क्षेत्र कच्छ रियासत का अंग दिखाया गया था परन्तु पाकिस्तान का इन तथ्यों से कोई मतलब नहीं था। वह लड़ाई करना चाहता था। इसलिए अपने दावे को मनवाने के लिए उसने कच्छ क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया और थोड़े समय में ही कच्छ के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया।

इस आक्रमण के पीछे अयूब के दो उद्देश्य थे। एक तो वह जानना चाहता था कि श्री शास्त्री में कितना दमखम है, दूसरे वह यह जानना चाहता था कि अमरीका द्वारा कम्युनिस्ट विस्तारवाद को रोकने के लिए दिये गए हथियारों के भारत के विरुद्ध प्रयोग पर अमरीका की क्या प्रतिक्रिया होगी। उसके लिए यह जानना आवश्यक था क्योंकि अमरीका भारत को आश्वासन दे चुका था कि उसके द्वारा पाकिस्तान को दिये जाने वाले

हथियारों का भारत के विरुद्ध प्रयोग नहीं होगा।

कच्छ पर आक्रमण के लिए भारत तैयार नहीं था। पूर्व इसके कि भारतीय सेना अपने अनुकूल क्षेत्र में प्रत्याक्रमण करती, ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री के दबाव पर युद्धबन्दी की घोषणा कर दी गई। इस प्रकार कच्छ का एक बड़ा भाग पाकिस्तान के सैनिक अधिकार में रह गया।

अप्रैल, १९६५ में राष्ट्रमण्डल के प्रधानमन्त्रियों के लन्दन में आयोजित सम्मेलन में श्री शास्त्री और अयूब की प्रत्यक्ष भेंट हुई। वहाँ ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री की मध्यस्थता से दोनों ने कच्छ का मामला एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग, जिसमें एक प्रतिनिधि भारत का, दूसरा पाकिस्तान और तीसरा दोनों द्वारा मनोनीत होना था, के सुपुर्द कर दिया।

यह पाकिस्तान की बहुत बड़ी कूटनीतिक विजय थी। इससे कच्छ क्षेत्र, जिसके सम्बन्ध में विवाद की कोई गुंजाइश ही नहीं थी, को विवादग्रस्त क्षेत्र घोषित कर दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय आयोग ने कच्छ का लगभग ५०० वर्गमील भाग पाकिस्तान को दे दिया। साथ ही कश्मीर को लद्दाख से जोड़ने वाली सड़क के निकट कारगिल की चोटी, जिस पर भारतीय सेना ने कच्छ युद्ध के समय बहुत बलिदान देकर अधिकार कर लिया था, पाकिस्तान को वापस कर दी गई।

दूसरे इस अनुभव से अयूब को लगा कि श्री शास्त्री पाकिस्तान के साथ युद्ध का खतरा मोल लेने को तैयार नहीं।

तीसरे उसने यह भी देख लिया कि अमरीका की उसके द्वारा दिये गए हथियारों को भारत के विरुद्ध प्रयोग करने की प्रतिक्रिया बहुत तीव्र नहीं है और वह उनका प्रयोग बड़े पैमाने पर कर सकता है।

कच्छ के अनुभव से पाकिस्तान के हौसले बुलन्द हो गए। लन्दन में पाकिस्तानी छात्रों के सामने बोलते हुए अयूब ने कहा कि पाकिस्तान के पैटन टैंक जब चाहें दिल्ली पहुँच सकते हैं।

इस प्रकार कूटनीतिक दृष्टि से अपनी स्थिति दृढ़ करके और सामरिक दृष्टि से अपनी और भारत की स्थिति का तुलनात्मक मूल्यांकन करके अयूब ने कश्मीर में पहले अपने घुसपैठियों द्वारा और फिर सीधा आक्रमण करके कश्मीर को बलात् हथियाने का एक और सुनियोजित प्रयास शुरू किया।

भारतीय सेना ने फिर लद्दाख के रास्ते पर नियन्त्रण रखने के लिए आवश्यक कारगिल की चोटी को पाकिस्तान से छीनकर और हाजीपीर के दर्रे पर अधिकार करके कश्मीर घाटी पर सीधे आक्रमण की सफलता को सन्दिग्ध बना दिया। इसीलिए पाकिस्तान ने छम्ब के रास्ते से जम्मू की ओर बढ़कर जम्मू से श्रीनगर को जाने वाली सड़क को काटने की योजना बनाई ताकि भारतीय सेना के लिए कश्मीर घाटी को अपने अधिकार में रखना असम्भव हो जाय। पाकिस्तान का यह भी अनुमान था कि पं० नेहरू की तरह लाल बहादुर शास्त्री भी युद्ध को व्यापक न बनाकर जम्मू-कश्मीर राज्य के अन्दर ही सीमित रखेंगे और इस कारण पाकिस्तान के लिए अपने बेहतर अस्त्र-शस्त्रों के कारण कश्मीर को बलात् हथियाना सम्भव हो सकेगा।

पाकिस्तानी टैंक और सैनिक १ सितम्बर, १९६५ को छम्ब सीमा में धुसे और तेज़ी से अखनूर नगर की ओर बढ़ने लगे ताकि वे चिनाब नदी पर एकमात्र पुत्र पर अधिकार करके जम्मू की ओर बढ़ सकें। चिनाब नदी पर बने उस पुल पर से टैंक नहीं गुज़र सकते थे इसलिए भारतीय सेना के पास इस मोर्चे पर कोई टैंक नहीं थे। वायु सेना को युद्ध में झोंकने से पाकिस्तानी सेना की प्रगति कुछ धीमी अवश्य हुई परन्तु पूरी तरह रुकी नहीं। मैं उस समय श्रीनगर में था। रियासत के गृहमन्त्री डी० पी० धर मुझे उसी दिन मिले और कहा कि आप तो जानते हैं कि अखनूर का पुल और जम्मू पाकिस्तान के हाथ में आ जाने के बाद कश्मीर को बचाना असम्भव हो जाएगा। उन्होंने आग्रह किया कि मैं तुरन्त दिल्ली जाकर श्री शास्त्री को लाहौर पर हमला करने के लिए कहूँ ताकि पाकिस्तान का जम्मू पर दबाव कम हो सके।

यह भारत के लिए वास्तव में निर्णय की घड़ी थी। उसी दिन विमान से दिल्ली लौटने पर मुझे यह जानकारी प्रसन्नता हुई कि श्री शास्त्री ने उचित निर्णय ले लिया है।

श्री शास्त्री ने लाहौर और स्यालकोट पर आक्रमण करने का फ़ैसला करके सिद्ध कर दिया कि वे पं० नेहरू की तरह बार-बार ग़लती करने वाले किकर्तव्यविमूढ़ व्यक्ति नहीं हैं। ऐसा करके उन्होंने अयूब के कच्छ के

अनुभव के आधार पर उनके बारे में मूल्यांकन को ग़लत सिद्ध कर दिया। जब लाहौर और सियालकोट भारतीय तोपों की मार में आ गए तब पाकिस्तान के अभिभावकों ने सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के द्वारा युद्धबन्दी करवा दी। पाकिस्तान का सैनिक शक्ति से कश्मीर को हथियाने का यह दूसरा प्रयत्न भी विफल हुआ और उसे लेने के देने पड़ गए।

इस आक्रमण की विफलता के बाद कश्मीर में पाकिस्तान-परस्त तत्त्व और शेख अब्दुल्ला के हौसले बिल्कुल पस्त हो गए। पाकिस्तान का यह विफल आक्रमण भारत को अपनी पुरानी भूलें सुधारने का अच्छा अवसर था। सैनिक आक्रमण करके पाकिस्तान ने सुरक्षा परिषद् के कश्मीर-सम्बन्धी सभी प्रस्तावों को नकार दिया था। भारत को इसका लाभ उठाना चाहिए था।

सम्भवतः लाल बहादुर शास्त्री इस दिशा में कुछ आवश्यक पग उठाते। परन्तु उन्हें इसका समय ही नहीं मिला। सोवियत रूस के प्रधानमंत्री कोसीगिन ने युद्धबन्दी की घोषणा के बाद प्रधानमंत्री शास्त्री और राष्ट्रपति अय्यब को ताशकन्द में शान्ति वार्ता के लिए निमन्त्रित किया। यह शान्ति वार्ता जनवरी, १९६६ के प्रथम सप्ताह में शुरू हुई। श्री शास्त्री के साथ इस वार्ता में भाग लेने के लिए भारत के सुरक्षा मन्त्री यशवन्त राव चौहान, विदेश मन्त्री स्वर्णसिंह और मास्को में भारत के राजदूत टी० एन० कौल ताशकन्द गए।

१९६५ के युद्ध के फलस्वरूप रियासत के अन्दर सामरिक महत्त्व का हाजीपीर दर्रा और कारगिल की चोटी पर भारत की सेना ने फिर अपना अधिकार कर लिया था और लाहौर-सियालकोट सीमा पर भारत की सेना पाकिस्तान के अन्दर घुस चुकी थी। श्री शास्त्री ने ताशकन्द जाने से पहले राष्ट्र को आश्वासन दिया कि हाजीपीर आदि जम्मू-कश्मीर रियासत के उस पाक-अधिकृत भाग को, जिसे भारतीय सेना ने वापस लिया है, किसी हालत में पाकिस्तान को लौटाया नहीं जाएगा। पाकिस्तान का उन पर कोई दावा था भी नहीं क्योंकि विलय के कारण सारी रियासत भारत का अभिन्न अंग बन चुकी थी।

ताशकन्द में सोवियत रूस ने भारत पर दबाव डालना शुरू किया कि

वह हाजीपीर और कारगिल की चोटी भी पाकिस्तान को वापस कर दे। श्री शास्त्री सात दिन तक अपनी बात पर अड़े रहे परन्तु अन्त में अपने साथियों के दबाव के कारण उन्हें झुकना पड़ा। भारत कूटनीति में फिर पिट गया।

ताशकन्द घोषणा, जिस पर ११ जनवरी, १९६६ को दोनों पक्षों के हस्ताक्षर हुए, भारत और पाकिस्तान ने युद्ध-पूर्व की स्थिति को बहाल करना स्वीकार कर लिया। पाकिस्तान के लिए यह बड़ी जीत थी। उसे भारत द्वारा विजित क्षेत्र भी वापस मिल गया और उसने रूस से भी आश्वासन ले लिया कि जम्मू-कश्मीर रियासत का जो भाग इसने १९४७-४८ के युद्ध में हस्तगत किया था वह उसका है और उस पर भारत का दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारत पर विपरीत दबाव डालकर सोवियत रूस वस्तुतः १९५५ की अपनी इस घोषणा से कि वह सारे जम्मू-कश्मीर राज्य को भारत का अभिन्न अंग मानता है, मुड़ गया।

ताशकन्द ने भारत की अपने सभी अण्डे रूस की टोकरी में रखने की विदेश नीति की विफलता को भी बेनकाब कर दिया। रूस के नेता ने सिद्ध कर दिया कि रूस भारत का विश्वसनीय और भरोसेमन्द मित्र नहीं है।

ताशकन्द घोषणा पर हस्ताक्षर करने के तुरन्त बाद पाकिस्तान के प्रवक्ता ने घोषणा की कि पाकिस्तान ने दोनों ओर के विजित क्षेत्र खाली कराने के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना और कश्मीर के सम्बन्ध में इसका दृष्टिकोण पूर्ववत् है।

११ जनवरी, १९६६ की रात को ही श्री लाल बहादुर शास्त्री की ताशकन्द में ही रहस्यमय हालात में मृत्यु हो गई। सोवियत रूस में १९६०-६१ में कम्युनिस्ट राजतन्त्र के अन्त के बाद जो रहस्योद्घाटन हुए हैं उनके अनुसार रात ११ बजे के लगभग श्री शास्त्री सहायता के लिए चिल्लाए परन्तु रूसी गुप्तचर विभाग के लोग, जिन्हें डर था कि कहीं उनके द्वारा श्री शास्त्री के कमरे में 'बर्गिंग' यानी जासूसी उपकरणों को फिट करने सम्बन्धी रहस्य न खुल जाएँ, उनकी सहायता के लिए उनके पास नहीं गए। निकट कोई और था नहीं, थोड़ी देर में उनका देहान्त हो गया।

उपलब्ध जानकारी के अनुसार मृत्यु से कुछ समय पूर्व श्री शास्त्री ने

टी० एन० कौल के मुसलमान बावर्ची द्वारा दिया गया दूध का गिलास पिया था। सन्देह है कि उसमें शायद जहर मिलाया गया था क्योंकि मरने के बाद उनके शरीर का रंग नीला पड़ गया था। डॉ० चुग, जो उनके निजी चिकित्सक के रूप में उनके साथ ताशकन्द गया था, उसकी कुछ समय बाद एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई या करा दी गई। इस प्रकार जो एक व्यक्ति अधिकृत रूप में उनकी मृत्यु के रहस्य पर प्रकाश डाल सकता था, वह भी खत्म हो गया।

शास्त्रीजी की मृत्यु का तात्कालिक कारण चाहे हृदयगति का रुकना हो या विष हो, परन्तु वास्तविक कारण वह मानसिक पीड़ा थी जो उन्हें ताशकन्द घोषणा, जिसके अनुसार हाजीपीर दर्रा और कारगिल की चोटी भी पाकिस्तान को वापस करनी पड़ी, के कारण हुई। यदि उनके साथी उन पर दबाव न डालते तो सम्भवतः श्री शास्त्री उस घोषणा पर हस्ताक्षर न करते और उनका निधन भी न होता।

१९६५ के युद्ध में भी भारत की सेना जीती और राजनैतिक नेता हारे। सैनिक जीत कूटनीतिक हार में बदल दी गई परन्तु इस युद्ध के कारण भारत की सबसे बड़ी क्षति थी लाल बहादुर शास्त्री का अन्त !

यदि श्री शास्त्री ताशकन्द से जीवित लौट आते तो निश्चित ही वे भारत की कश्मीर नीति और विदेश नीति पर पुनर्विचार करते और भारत के इतिहास में एक नए युग की शुरुआत करते। परन्तु विधि को यह मंजूर नहीं था।

श्री शास्त्री के निधन के बाद भारत में सोवियत-परस्त और मुस्लिम-परस्त 'लाबी' सक्रिय हुई। कोसीगिन ने भी श्री शास्त्री के दाह-संस्कार के बाद चार दिन और दिल्ली में रुककर इस 'लाबी' को बल प्रदान किया।

१९ जनवरी, १९६६ को कांग्रेस संसदीय दल ने श्रीमती इन्दिरा गांधी को अपना नया नेता चुनकर नेहरू युग को वापस लाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने पिता का अनुसरण करते हुए फिर कश्मीर के सम्बन्ध में ढुलमुल और राष्ट्र-विरोधी नीति अपनायी शुरू की।

जीत में हार

भारत का विभाजन साम्प्रदायिक आधार पर हुआ था। मुस्लिम लीग का यह दावा था कि भारत के मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं। उनकी भाषा, संस्कृति और सभ्यता शेष भारतीय हिन्दुओं से भिन्न हैं। इसलिए वे उनके साथ एक देश में एक राष्ट्र के रूप में नहीं रह सकते। उन्हें अपना अलग देश चाहिए। इसीलिए ब्रिटिश भारत के मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों को भारत से काटकर पाकिस्तान का नया देश बनाया गया था। पाकिस्तान उसी आधार पर जम्मू-कश्मीर राज्य का भी बँटवारा चाहता था और जम्मू और लद्दाख का क्षेत्र छोड़कर कश्मीर घाटी समेत सारी रियासत को हड़पना चाहता था, उसके लिए वह अभी भी प्रयत्नशील है।

इस्लाम के नाम पर मुसलमानों में हिन्दुओं के विरुद्ध नकारात्मक एकता तो सम्भव थी और है। उसी के बल पर वे भारत को विभाजित कर सके। परन्तु विभाजन के बाद पाकिस्तान में गए क्षेत्रों और उनकी मुस्लिम जनता की स्वाभाविक भाषाई, सांस्कृतिक और सामाजिक भिन्नताएँ सामने आने लगीं। पूर्वी पाकिस्तान के लोगों ने बँगला के स्थान पर उर्दू को अपनी राज्य भाषा बनाने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार पाकिस्तान के बनते ही पूर्वी बंगाल में शेष पाकिस्तान से अलग होने की भावना जगने लगी। आर्थिक क्षेत्र में भेदभाव और राजनैतिक सत्ता के पश्चिमी पंजाब के हाथ में केन्द्रित हो जाने के कारण पूर्वी पाकिस्तान में यह भावना लगातार बढ़ती गई। कश्मीर के मामले में पूर्वी पाकिस्तान की रुचि कभी थी ही नहीं। पाकिस्तान के शासकों ने समय-समय पर वहाँ हिन्दू-विरोधी भावना जगाकर मुस्लिम एकता बनाए रखने का प्रयत्न किया परन्तु जब सब धनी-

मानी हिन्दू या तो मार दिये गए या निकाल दिये गए और उनके धन और धरती को स्थानीय मुसलमानों ने हड़प लिया, तब हिन्दू-विरोधी भाव जगाकर उन्हें अपने साथ रखने का हथकंडा भी पाकिस्तान के शासकों के पास न रहा।

१९७० के आम चुनाव में शेख मुजीब की अवामी पार्टी ने पूर्वी पाकिस्तान में लगभग ९०% स्थान जीते और पाकिस्तान की केन्द्रीय असेम्बली में भी उसे बहुमत मिल गया। लोकतन्त्र का तकाजा था कि शेख मुजीब को पाकिस्तान का प्रधानमन्त्री बनने दिया जाता और पूर्वी पाकिस्तान की स्वायत्तता की माँग स्वीकार की जाती। इसके विपरीत पाकिस्तान के शासकों ने शेख मुजीब को जेल में डालकर पूर्वी पाकिस्तान में दमनचक्र तेज कर दिया जिसके परिणामस्वरूप अवामी पार्टी ने पूर्वी बंगाल की पाकिस्तान से अलग एक स्वतन्त्र बंगला देश होने की घोषणा कर दी। इस प्रकार 'मुस्लिम हैं, हम वतन हैं' और इस्लामी राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को स्वयं पाकिस्तान के अन्दर से चुनौती मिलने लगी। भारत के राष्ट्रवादियों के लिए भी यह स्थिति एक चुनौती थी। पाकिस्तान द्वारा अस्सी लाख के लगभग हिन्दुओं को पूर्वी पाकिस्तान से बलात् निकालकर भारत में शरणार्थी बनाकर भेज देने के कारण भारत में बंगला देश और शेख मुजीब को सहायता देने की माँग उठने लगी। इसलिए भारत सरकार ने पूर्वी बंगाल के मुक्ति आन्दोलन की ठोस सहायता करनी शुरू कर दी।

पाकिस्तान के तानाशाह जनरल याहिया ख़ाँ को जब यह विश्वास हो गया कि पूर्वी बंगाल को पाकिस्तान से अलग होने से रोकना सम्भव नहीं है तो उसने उसके स्थान पर भारत का कश्मीर समेत एक बड़ा पश्चिमी क्षेत्र हड़पने के उद्देश्य से ३ दिसम्बर, १९७१ को भारत पर आक्रमण कर दिया। जैसा कि याहिया ख़ाँ ने बाद में स्वयं स्वीकार किया, उसने पूर्वी बंगाल को हाथ से निकला मानकर ही युद्ध शुरू किया था। इसलिए पाकिस्तानी आक्रमण का सारा जोर पश्चिमी मोर्चे पर था। पूर्वी बंगाल में उसकी सेना चौदह दिनों से भी कम समय में हथियार डालने पर विवश हो गई। भारत को भी पश्चिमी मोर्चे पर ही अधिक ध्यान देना पड़ा और उसकी क्षति भी अधिक वहीं हुई। भारत के युद्ध में वीरगति पाने वाले

जवानों का तीन-चौथाई भाग पश्चिमी मोर्चे पर ही हताहत हुआ।

कश्मीर को बलात् हथियाने के लिए इस तीसरे आक्रमण में भी पाकिस्तान ने पहले छम्ब की ओर से जम्मू की ओर बढ़ने का और कश्मीर को शेष भारत से काटने का प्रयत्न किया। वह जौड़ियाँ तक का क्षेत्र हस्तगत करने में सफल भी हो गया, परन्तु अन्य मोर्चों पर पश्चिम में भी उसे मुँह की खानी पड़ी। उसका सिन्ध का एक बड़ा क्षेत्र और जम्मू के पास का ज़फरवाल क्षेत्र भारत के हाथ में आ गया और वहाँ से लाखों पाकिस्तानी शरणार्थी बनकर लाहौर के दरवाज़े खटखटाने लगे। पूर्व में पाकिस्तान की सेना को आत्म-समर्पण करना पड़ा और उसके ६३,००० के लगभग सैनिक युद्धबन्दी बना लिये गए। यह एक निर्णायक विजय थी।

भारत के सैनिक इतिहास का यह स्वर्ण अवसर था। भारत की सेना और सेनापतियों ने भारत का नाम संसार-भर में ऊँचा कर दिया था। पाकिस्तान विघटन के कगार पर खड़ा था। यदि उस समय भारत का राजनैतिक नेतृत्व भी सेना जितना सबल और राष्ट्रभक्त होता तो न केवल कश्मीर समस्या का स्थायी हल हो जाता अपितु पश्चिमी पाकिस्तान का भी विघटन हो जाता।

परन्तु एक बार फिर नेहरू राजवंश भारत का अभिशाप सिद्ध हुआ। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारतीय सेना की विजय का श्रेय स्वयं लेकर अपने-आपको भारत-रत्न तो घोषित करवा दिया परन्तु अपनी राजनीतिक और कूटनीतिक विफलता के कारण चन्द महीनों में भारत की महान् विजय को हार में बदल दिया।

यह क्रम पहले पूर्वी बंगाल से शुरू हुआ। उसकी पाकिस्तान से स्वतन्त्रता का सारा श्रेय भारतीय सेना को था। भारतीय जवानों ने उसके लिए अपने खून की होली खेली थी और भारतीय जनता ने उसके लिए महान् आर्थिक और अन्य कष्ट उठाए थे। यथार्थवाद का तकाज़ा था कि भारत बंगला देश के साथ अपनी सन्धि में साँझी सुरक्षा, साँझी मंडी और खुली सीमा का विधान करता ताकि बंगलादेश शेष भारत के साथ मिल-कर शीघ्रता से अपने पाँवों पर खड़ा हो जाता और वहाँ के हिन्दुओं का भविष्य भी सुरक्षित हो जाता। परन्तु भारत ने बंगलादेश के साथ की गई

सन्धि में फरक्का बाँध के सम्बन्ध में भी कुछ नहीं मनवाया। फलस्वरूप बंगलादेश बनने के एक वर्ष के भीतर ही वहाँ पर मुस्लिम मतान्धता फिर सिर उठाने लगी।

१९७५ के शुरू में शेख मुजीब ने वहाँ पर लोकतन्त्र भी खत्म कर दिया और रूसी ढंग की एकदलीय तानाशाही लाद दी। उसकी प्रतिक्रिया हुई। १५ अगस्त, १९७५ को शेख मुजीब को परिवार सहित मौत के घाट उतार दिया गया और बंगलादेश में फिर मतान्ध इस्लामी शासन कायम हो गया। इसलिए अन्य पाकिस्तानी, चाहे वे पाकिस्तान में हों या भारत में, अब यह गर्वोक्ति करते नहीं थकते कि मुस्लिम राष्ट्रवाद का सिद्धान्त यथावत् कायम है। पाकिस्तान-सम्बन्धी मुस्लिम लीग के १९४० के लाहौर-प्रस्ताव में भारत के पश्चिम और पूर्व में दो अलग स्वतन्त्र मुस्लिम राज्यों के निर्माण की माँग की गई थी। भारत-विभाजन के बाद उस प्रस्ताव की उपेक्षा कर पूर्व और पश्चिम के मुस्लिम क्षेत्रों को एक ही राज्य बना दिया गया था। अब वे फिर दो राज्य बन गए हैं। इस प्रकार मुस्लिम राष्ट्रवाद के सिद्धान्त पर बंगलादेश के पाकिस्तान से अलग होने से कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा है। यह अब इस्लामी देश घोषित हो चुका है और भारत की अपेक्षा पाकिस्तान के अधिक निकट है। वहाँ बच गए हिन्दुओं और बौद्धों की स्थिति पहले से भी बदतर हो गई है। इस प्रकार बंगलादेश के लिए किये गए भारत के सारे बलिदान व्यर्थ हो गए हैं।

परन्तु भारत की इससे भी बड़ी कूटनीतिक हार पश्चिमी क्षेत्र के सम्बन्ध में हुई। भारत उस समय चाहता तो कम-से-कम पाकिस्तान को कश्मीर के विषय में अपनी बात मनवाने में विवश कर ही सकता था परन्तु हुआ इसके बिल्कुल विपरीत।

जुलाई, १९७२ में शिमला में श्रीमती गांधी और श्री भुट्टो के बीच सन्धि के अनुसार भारत ने पाकिस्तान का पाँच हज़ार वर्गमील से अधिक विजित क्षेत्र खाली करना स्वीकार कर लिया परन्तु पाकिस्तान ने भारत का सौ वर्गमील का छम्ब क्षेत्र खाली करने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, वरन् शिमला सन्धि की धारा ४ में पहली बार भारत ने पाकिस्तान को कश्मीर समस्या में एक पक्ष के रूप में स्वीकार किया और यह मान लिया

कि दोनों देश कश्मीर के सम्बन्ध में बातचीत करके कोई हल निकालेंगे।

इस प्रकार १९७१ के युद्ध और उसमें अपार बलिदान देकर भारतीय सेना द्वारा प्राप्त महान् विजय का अन्तिम परिणाम यह निकला कि एक तो भारत का सामरिक महत्त्व का छम्ब क्षेत्र पाकिस्तान को मिल गया और वहाँ के ५० हजार हिन्दू फिर अपने ही देश में शरणार्थी बना दिये गए और दूसरे भारत ने अपनी गत पच्चीस वर्षों की नीति को छोड़कर पहली बार पाकिस्तान का कश्मीर के मामले में पक्षगत आधार स्वीकार कर लिया। संसार के इतिहास में महान् सैनिक विजय के बाद इस प्रकार की कूटनीतिक और राजनैतिक पराजय का कोई उदाहरण ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता। भारत, भारत की जनता और भारत की वीर सेना के साथ यह ऐसा विश्वासघात था जिसके लिए इतिहास भारत के उस समय के शासकों को कभी क्षमा नहीं करेगा।

इस प्रकार भारत की सबसे बड़ी सैनिक जीत एक भयानक हार में बदल गई। कश्मीर में भारत की जीत होगी या हार उसका फ़ैसला शिमला में हो गया। प्रश्न 'जीत या हार?' का न रहा। शिमला सन्धि ने जीत को हार में बदल देने का रास्ता खोल दिया। इसके बाद इन्दिरा गांधी द्वारा शेख अब्दुल्ला को कश्मीर में पुनः सत्ता में लाने से कश्मीर में पाकिस्तान-परस्त और भारत-विरोधी तत्त्वों की शक्ति बढ़ने लगी। कश्मीर में आज की स्थिति उसका सीधा परिणाम है।

शेख अब्दुल्ला की सत्ता में वापसी

शिमला सन्धि के द्वारा दाँव हार जाने के बाद श्रीमती गांधी को कश्मीर के अन्दर की स्थिति को सुधारने और भारत के अनुकूल बनाने की चिन्ता हुई क्योंकि इस सन्धि के अनुसार कश्मीर समस्या का हल भारत और पाकिस्तान ने किसी बाहरी हस्तक्षेप के बिना मिलकर निकालना था। भारत सरकार शुरू से कश्मीर के सम्बन्ध में यह गलत रुख (Stand) ले रही थी कि कश्मीर के मुसलमान स्वेच्छा से भारत के साथ हैं। इसलिए उसे कश्मीर के लोगों को अपने अनुकूल प्रभावित करना आवश्यक लगने लगा।

भारत की कश्मीर-सम्बन्धी आन्तरिक नीति की यह बड़ी विफलता थी कि शेख अब्दुल्ला को गद्दी से उतारने और कश्मीर के विकास पर अरबों रुपया खर्च करने के बाद भी कश्मीर घाटी के अधिकांश मुसलमानों के हृदयों में पाकिस्तान समाया हुआ था और उनकी शेख अब्दुल्ला में आस्था पूर्ववत् कायम थी।

इस बात का अहसास कश्मीर के कांग्रेस के मुख्यमन्त्री मीर कासिम को भी था। वह जानता था कि कश्मीर में न कांग्रेस पार्टी की कोई साख है और न उसकी अपनी। इसलिए उसने भी श्रीमती गांधी को सुझाव दिया कि वह शेख अब्दुल्ला को तुष्ट करें और उसकी सहायता से कश्मीरी मुसलमानों का मन भारत के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करें।

शेख अब्दुल्ला भी, जो उस समय तक दिल्ली में नज़रबन्द था, १९७१ के युद्ध के बाद समझ गया कि पाकिस्तान सैनिक बल से कश्मीर नहीं ले सकता और उसका पाकिस्तान की ओर देखना व्यर्थ है। इसलिए उसने पूर्ण

स्वतन्त्रता से कम भारत के संविधान के अन्तर्गत कोई रास्ता निकालने की बात कहनी शुरू की।

इस पृष्ठभूमि में श्रीमती गांधी के कुछ कश्मीरी पंडित सलाहकारों ने शेख अब्दुल्ला की श्रीमती गांधी से मिलने की व्यवस्था की। इस भेंट के बाद शेख अब्दुल्ला को रिहा कर दिया गया और कश्मीर के सम्बन्ध में उसके प्रतिनिधि मिर्जा अफ़ज़लबेग और श्रीमती गांधी के प्रतिनिधि पार्थसारथी को बातचीत जारी रखने का काम सौंपा गया।

लगभग दो वर्षों तक राजनैतिक और संवैधानिक विषयों पर बातचीत करने के बाद इन्होंने एक नीति-निर्णय (फ़ार्मूला) और कार्ययोजना तय की जिसे श्रीमती गांधी ने २४ फ़रवरी, १९७५ को लोकसभा के सामने रखा।

इस योजना के अनुसार शेख अब्दुल्ला ने अपना जनमत मोर्चा (प्लेवीसो फ्रंट) भंग करके भारत और कश्मीर के संविधान के अन्तर्गत कुछ आश्वासनों के साथ काम करना स्वीकार किया और श्रीमती गांधी ने उसे कांग्रेस पार्टी, जिसका जम्मू-कश्मीर विधानसभा में स्पष्ट बहुमत था, के समर्थन से रियासत का पुनः मुख्यमन्त्री बनाने का निर्णय लिया। श्रीमती गांधी ने संसद को यह भी बताया कि शेख अब्दुल्ला १९५३ के पूर्व की स्थिति को पूर्णरूपेण बहाल करने पर बल देता था परन्तु यह बात नहीं मानी गई। किन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया कि भारत के संविधान की कश्मीर-सम्बन्धी अस्थायी धारा ३७० को कायम रखा जायगा।

जब शेख अब्दुल्ला और श्रीमती गांधी के बीच वार्तालाप चल रहा था और संकेत मिल रहे थे कि श्रीमती गांधी उसे पुनः कश्मीर में सत्तारूढ़ करने का सोच रही हैं तब मैंने श्रीमती गांधी को पत्र लिखकर चेतावनी दी कि जैसे "तेंदुआ अपने शरीर की लकीरें नहीं बदलता, उसी प्रकार शेख अब्दुल्ला भी नहीं बदल सकता। इसलिए उसे पुनः कश्मीर में सत्ता सौंपना भयानक भूल होगी।"

इसके उत्तर में श्रीमती गांधी ने मुझे लिखा कि वह एक सोचा-समझा खतरा (Calculated risk) ले रही हैं।

शेख अब्दुल्ला ने कश्मीर में जनमत की रट लगाना बन्द करने, जनमत

मोर्चा भंग करने और कश्मीर का भारत के साथ विलय स्वीकार करने का आश्वासन दिया।

श्रीमती गांधी को जिन कारणों ने 'सोचा-समझा खतरा' मोल लेने के लिए विवश किया उनमें एक था उनके मन में अपने पिता की तरह शेख अब्दुल्ला के लिए कोमल स्थान। वह जानती थीं कि अपने निधन से पहले पं० नेहरू शेख अब्दुल्ला को कश्मीर में फिर सत्तारूढ़ करना चाहते थे और इसके लिए प्रयत्नशील थे। उसी काम को पूरा करके श्रीमती गांधी ने अपने पिता की इच्छा को पूर्ण किया और दूसरी ओर अपने अब्दुल्ला 'चाचा' के प्रति अपना सद्भाव दिखाया।

एक और कारण था, श्रीमती गांधी को एक ऐसे मुसलमान नेता की आवश्यकता थी जो उन्हें और उनकी पार्टी को मुसलमान मत दिलवा सके। कांग्रेस में उस समय ऐसा कोई मुस्लिम नेता नहीं था जिसकी मुसलमानों में मान्यता हो। शेख अब्दुल्ला ने अपने भारत-विरोधी रुख और दृढ़ता के कारण भारत के मुसलमानों के दिलों में अपना स्थान बना लिया था। श्रीमती गांधी उसका दलगत लाभ उठाना चाहती थीं। उन्होंने शेख अब्दुल्ला को पहले केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में लेने की पेशकश की परन्तु अब्दुल्ला जानता था कि उसका महत्त्व उसके कश्मीर में जनाधार के कारण है। इसलिए वह कश्मीर के बाहर कोई पद स्वीकार करने को तैयार नहीं था।

दूसरी ओर शेख अब्दुल्ला की अपनी विवशताएँ थीं। वह बूढ़ा हो रहा था और उसका स्वास्थ्य गिर रहा था। उसके साथी भी थक चुके थे। कश्मीर में भी मौलवी फ़ारूक कश्मीरी मुसलमानों के हृदयों में से शेख को निकालकर उसकी जगह स्वयं विराजमान होने का प्रयत्न कर रहा था। उसके पास पाकिस्तान की पीठ, साधन और मज़हबी नेतृत्व था। शेख अब्दुल्ला और उसके साथी जानते थे कि सत्ता की सहायता के बिना फ़ारूक के बढ़ते प्रभाव को रोकना कठिन होगा।

इसके अतिरिक्त शेख अब्दुल्ला १९७१ के बाद यह भी समझ गया था कि सैनिक शक्ति की दृष्टि से पाकिस्तान भारत का मुकाबला नहीं कर सकता और बिना लड़ाई भारत को कश्मीर से निकालना सम्भव नहीं।

इसलिए उसने सत्ता प्राप्त कर और अपने पाँव शासन में फिर जमाकर अपनी स्वायत्तता को बढ़ाना ही, बदलती हुई स्थिति में बेहतर समझा। वह यह भी जानता था कि पाकिस्तान के मुकाबले में उसकी स्थिति भारतीय कश्मीर में कहीं बेहतर रहेगी। खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ का हथ उससे सामने था। वह यह भी जानता था कि चालाकी और राजनैतिक दाँव-पेच में पाकिस्तान का प्रधानमंत्री भुट्टो उससे बीस है। इसलिए उसने बुद्धिमत्ता और नीतिमत्ता इसी में समझी कि वह श्रीमती गांधी के सामने झुककर विजय प्राप्त कर ले। श्री भुट्टो द्वारा शिमला में श्रीमती गांधी के प्रति अपनाई गई इस सफल राजनीति का भी शेख अब्दुल्ला पर प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार दोनों ओर से 'सुविधा का विवाह' की नीति अपनाई गई और शेख अब्दुल्ला कांग्रेस पार्टी और श्रीमती गांधी के कन्धों पर सवार होकर पुनः कश्मीर का 'वज़ीर-ए-आज़म' बन गया।

शेख अब्दुल्ला ने अपने पाँव जमाते ही श्रीमती गांधी और कांग्रेस को अपने हाथ दिखाने शुरू कर दिए। उसे कश्मीर की सत्ता सौंपने की एक अव्यक्त शर्त यह थी कि वह अपना जनमत मोर्चा भंग कर देगा और कांग्रेस में शामिल हो जाएगा। उसने जनमत मोर्चा तो भंग कर दिया परन्तु कांग्रेस में शामिल होने के बजाय अपनी पुरानी नेशनल कॉन्फ्रेंस को पुनरुज्जीवित कर दिया और वह स्वयं उसका प्रधान बन गया। इसके बाद शेख अब्दुल्ला और उसकी नेशनल कॉन्फ्रेंस ने कांग्रेस पार्टी को उस ऊँट की तरह, जिसने खेमे में पहले मुँह फैलाने की अनुमति ली और फिर सारे खेमे पर कब्ज़ा करके मालिक को बाहर निकाल दिया था, कश्मीर घाटी से व्यावहारिक रूप में खदेड़ना शुरू किया।

जून, १९७५ में श्रीमती गांधी द्वारा भारत में आपात्स्थिति लागू कर विरोधी दलों के सभी नेताओं और प्रमुख कार्यकर्ताओं को जेल में डाल देने और प्रेस पर कड़ा सेन्सर लगा देने से नई स्थिति पैदा हुई। शेख अब्दुल्ला ने अपनी रियासत में न विरोधी दलों के नेताओं को बन्दी बनाया और न प्रेस पर सेन्सर लगाया। उल्टे उसने जयप्रकाश नारायण को, जिसने सदा उसका साथ दिया था, बन्दी बनाए जाने का विरोध किया।

इन सब बातों से इन्दिरा गांधी समझने लगीं कि शेख अब्दुल्ला को

फिर सत्ता में लाकर उन्होंने भूल की है। वे उसके पर काटने का प्रयत्न करने लगीं। इस उद्देश्य से कांग्रेस पार्टी ने शेख अब्दुल्ला से अपना समर्थन वापस ले लिया और गवर्नर को शेख अब्दुल्ला को बर्खास्त करने को कहा। परन्तु शेख अब्दुल्ला अधिक चालाक निकला। उसने कश्मीर के संविधान की एक धारा का लाभ उठाते ही राज्यपाल से विधानसभा भंग करने की सिफारिश कर दी। राज्यपाल, एल० के० झा, को उसकी सिफारिश माननी पड़ी। १९७१ में विधानसभा के नए चुनाव हुए। उस समय तक मोरारजी देसाई नई दिल्ली में जनता पार्टी की सरकार के प्रधानमंत्री बन चुके थे। उन्होंने इस बात की व्यवस्था की कि जम्मू-कश्मीर में भी चुनाव स्वतन्त्र और निष्पक्ष हों।

शेख अब्दुल्ला की नेशनल कॉन्फ्रेंस ने इस चुनाव में अपने उम्मीदवार खड़े किए। हालाँकि शेख अब्दुल्ला बीमारी के कारण स्वयं चुनाव-प्रचार में भाग न ले सका तो भी उसकी पार्टी को भारी बहुमत मिला और वह अपने बल पर जम्मू-कश्मीर का मुख्यमंत्री बन गया।

अपनी शक्ति का परिचय देने के बाद शेख अब्दुल्ला ने सुयोजित ढंग से कश्मीर में केन्द्र सरकार का प्रभाव कम करने और कश्मीर के प्रशासन को अपने रंग में रंगने की नीति अपनाई। उसने पुलिस के इन्स्पेक्टर जनरल और मुख्य सचिव पर केन्द्र सरकार द्वारा मनोनीत अफसरों को नियुक्त करने के बजाय अपनी मर्जी के लोगों को इन महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करना शुरू किया। जमाते इस्लामी को उसने खुली छूट दे दी। प्रशासन के इस्लामीकरण की प्रक्रिया तेज़ हो गई। प्रशासन पर उसकी और उसकी विचारधारा की पकड़ मजबूत हो जाने के कारण भारत सरकार का प्रभाव व्यावहारिक रूप में कम होने लगा।

परन्तु उसने इस बात का ध्यान रखा कि श्रीमती गांधी से उसका पूरा बिगाड़ न हो क्योंकि उसे अपने बेटे फ़ारूक अब्दुल्ला को अपने बाद गद्दी पर बिठाने के लिए उनके सहयोग की आवश्यकता थी।

शेख अब्दुल्ला के इस अन्तिम राज्यकाल में कश्मीर में पाकिस्तान के बढ़ते प्रभाव का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जब सितम्बर, १९८२ में उसकी मृत्यु हुई, तब पाकिस्तान-परस्त तत्त्वों ने उसे पाकिस्तानी

झण्डे में लपेटकर दफन करने की योजना बनाई। समय पर इस योजना की जानकारी मिल जाने के कारण भारत सरकार और सेना इसे विफल करने में सफल हुई।

शेख अब्दुल्ला ने अपने जीवनकाल में ही अपने बड़े बेटे फ़ारूक अब्दुल्ला को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था परन्तु उसके दामाद गुलाम मोहम्मद शाह को यह बात स्वीकार नहीं थी। उसने उसके मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र देकर अपना अलग मोर्चा बना लिया। उसका नेशनल काँफ्रेंस पर प्रभाव फ़ारूक अब्दुल्ला से अधिक था। यदि राज्यपाल शेख अब्दुल्ला का मृत्यु का समाचार फैलने से पहले फ़ारूक अब्दुल्ला को मुख्यमन्त्री की शपथ न दिलाते तो कश्मीर की स्थिति शायद विस्फोटक रूप ले लेती।

शेख अब्दुल्ला के निधन से कश्मीर की स्थिति में भारत के हितों की दृष्टि से एक बड़ा अन्तर आया। उसका अन्तिम समय तक कश्मीर की मुस्लिम जनता पर व्यापक प्रभाव था। वह उसे अपने साथ चला सकता था। उसके दिल में भारत और नेहरू परिवार के लिए एक नरम कोना भी था। वह जानता था कि यदि वह पाकिस्तान में होता तो उसका क्या हथ होता इसलिए वह भारत सरकार और नेहरू परिवार के सहयोग से कश्मीर में अपनी शेखडम कायम करना चाहता था और उसमें उसे बहुत-कुछ सफलता मिल भी चुकी थी। उसके मरने के बाद कश्मीर में कोई एक ऐसा नेता नहीं रहा जो कश्मीरी मुसलमानों को जिधर चाहे उधर घुमाने की क्षमता रखता हो।

शेख अब्दुल्ला ने अपने दूसरे राज्यकाल के सात वर्षों में कश्मीर के प्रशासन और कश्मीर के मुसलमानों में इस्लामी अलगाववाद और कश्मीरी राष्ट्रवाद का भाव पूरी तरह भर दिया। उसके मरने के बाद वह प्रशासन भारत के लिए सबसे बड़ा सिरदर्द बन गया।

फ़ारूक अब्दुल्ला अपने बाप के इरादों से भली-भाँति परिचित था। वह बहुत दिनों तक इंग्लैण्ड में रहा था। वहीं उसने एक अंग्रेज़ लड़की से विवाह किया था और वहाँ की नागरिकता भी ले ली थी। वहाँ उसका पाकिस्तान समर्थित 'कश्मीर लिबरेशन फ्रण्ट' के साथ सम्बन्ध कायम हुआ था। इसलिए दिल से वह कश्मीर की स्वतन्त्रता का पक्षधर था। उसके मन का यह भाव

उसके वक्तव्यों और करदार में झलकने लगा। राजीव गांधी के नई दिल्ली की गद्दी पर आसीन होने के बाद कश्मीर पर भारत की पकड़ और कमजोर होने लगी और कश्मीरी अलगाववाद उग्र रूप लेने लगा। पाकिस्तान ने इस स्थिति का लाभ उठाते हुए कश्मीर को हथियाने के लिए एक नए प्रकार का प्रच्छन्न युद्ध छेड़ने का निश्चय किया। 'टोपाक' योजना के अन्तर्गत चलने वाला यह युद्ध अभी चल रहा है।

प्रच्छन्न युद्ध—टोपाक योजना

१९७१ के युद्ध के बाद पाकिस्तान कुछ वर्षों तक पराजय के ज़ख़्म भरने और अपना घर ठीक करने में लगा रहा। शिमला सन्धि ने इसके प्रधानमन्त्री जुल्फ़िकार अली भुट्टो की स्थिति बहुत मज़बूत बना दी और वह पाकिस्तान की सैनिक शक्ति बढ़ाने में जुट गया। भारत के साथ उसने एक हज़ार वर्ष तक युद्ध करने की बात कही और पाक सेना के सभी अफ़सरों को सेना में कमीशन देने से पहले १९७१ की पराजय का बदला लेने की सौगन्ध दिलाने की प्रथा शुरू की। परन्तु इस्लामी परम्परा के अनुरूप पाकिस्तान में संसदीय लोकतन्त्र अधिक देर तक न चल सका। १९७७ में जनरल ज़िया-उल-हक ने वहाँ फिर सैनिक शासन स्थापित कर दिया और भुट्टो को जेल में डाल दिया। बाद में उस पर हत्या का मुकदमा चलाकर उसे फाँसी दे दी गई।

इसी बीच १९७९ में सोवियत रूस ने अफ़ग़ानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप करके वहाँ कम्युनिस्ट सरकार कायम कर दी। इससे सोवियत रूस के हिन्द महासागर की ओर बढ़ने का रास्ता खुल गया। अमरीका ने सोवियत रूस और इसकी कठपुतली अफ़ग़ान सरकार की काट के लिए अफ़ग़ानिस्तान के अन्दर विद्रोही इस्लामी मुजाहिदों को पाकिस्तान के माध्यम से हर प्रकार की सहायता देने की नीति अपनाई। इस प्रकार पाकिस्तान परोक्ष रूप में सोवियत रूस और अफ़ग़ानिस्तान के विरुद्ध अमरीका की प्रच्छन्न लड़ाई लड़ने लगा। अफ़ग़ानिस्तान से लाखों शरणार्थी भी पाकिस्तान में आने लगे। अफ़ग़ान विद्रोहियों की सहायता के लिए पाकिस्तान को अमरीका से बहुत बड़ी मात्रा में हथियार, गोला-बारूद और वित्तीय सहायता मिलने लगी।

लगभग दस वर्ष तक पाकिस्तान अफ़गानिस्तान में उलझा रहा। इस-लिए वह कश्मीर पर अधिक ध्यान न दे सका। परन्तु इस बीच फ़ारूक अब्दुल्ला और गुलाम मोहम्मद शाह अपने-अपने ढंग से कश्मीर में पाकिस्तान का खेल खेलते रहे। १९८७ के विधानसभा के चुनाव में फ़ारूक अब्दुल्ला और कांग्रेस में तालमेल के कारण कश्मीर घाटी में विरोध पक्ष की भूमिका जमात-ए-इस्लामी आदि विभिन्न मुस्लिम सिद्धान्तवादी और अलगाववादी संगठनों ने अदा की। उन्होंने मिलकर 'मुस्लिम युनाइटेड फ्रण्ट' के नाम से अपना मोर्चा बना लिया और घाटी में सब जगह अपने उम्मीदवार खड़े किए। इसे घाटी में ३०% मत मिले परन्तु इसके केवल ४ उम्मीदवार जीत पाए। इसका आरोप था कि फ़ारूक अब्दुल्ला ने धांधली से इसके उम्मीद-वारों को हराया है।

इस चुनाव के बाद मुस्लिम युनाइटेड फ्रण्ट ने कश्मीर में अलगाववादी आन्दोलन को तेज़ किया। कश्मीर के प्रशासनिक ढाँचे से उसे हर प्रकार की सहायता मिलने लगी।

१९८९ में सोवियत रूस द्वारा अफ़गानिस्तान से अपनी सेना वापस बुला लेने की घोषणा से एक नई स्थिति पैदा हुई। पाकिस्तान के पास उस समय अमरीका द्वारा अफ़गान मुजाहिदों के लिए दिये गए आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों का बड़ा भण्डार था। बहुत-से अफ़गान मुजाहिद भी खाली थे। पाकिस्तान ने इनका उपयोग कश्मीर को हथियाने के लिए करने का फ़ैसला किया। इस दृष्टि से पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल जिया-उल-हक ने एक योजना बनाई जिसे 'ऑपरेशन टोपाक' का नाम दिया गया। इस योजना को उसने पाकिस्तान के उच्च सैनिक अधिकारियों की एक बैठक में पेश किया। भारत की गुप्तचर एजेंसी 'रा' के अनुसार जिया ने उस योजना पर प्रकाश डालते हुए अपने अधिकारियों से कहा, "अभी तक हम कश्मीर में सीधे सैनिक आक्रमण करते रहे। उनमें हमें विफलता ही हाथ आई। अब हम सीधा सैनिक आक्रमण करने की बात अन्त में सोचेंगे। हमारे कश्मीरी भाइयों का दिल और दिमाग हमारे साथ है। लेकिन मानसिक दृष्टि से जैसा हिंसक संघर्ष पंजाबी और पठान कर सकते हैं, वे उसके लिए तैयार नहीं हैं। परन्तु कश्मीरियों के कुछ गुण हैं जिनका लाम हम उठा

सकते हैं। वे बहुत चालाक और बुद्धिमान हैं। वे दबाव को सह सकते हैं और राजनैतिक षड्यन्त्र में माहिर हैं। यदि हम उन्हें ऐसे साधन उपलब्ध करा सकें जो उन्हें अपने इन गुणों का पूरा लाभ उठाने में सहायक हों तो हमारा वांछित उद्देश्य पूरा हो सकता है। वैसे भी हर काम और हर स्थिति में हिंसक शक्ति का प्रयोग आवश्यक नहीं होता।

हमें अब कश्मीर में संघर्ष का वह मार्ग अपनाना चाहिए जिसे कश्मीरी समझ सकते हैं और अपना सकते हैं। दूसरे शब्दों में, सीधी सैनिक कार्रवाई के स्थान पर हमें अन्दर से नैतिक और शारीरिक दबाव डालने की नीति अपनानी होगी। इस ढंग से हम भारत सरकार की इच्छा-शक्ति को दुर्बल बनाएँगे, उसकी राजनैतिक शक्ति को क्षति पहुँचाएँगे और उसे संसार में जनमत के सामने दमनकारी के रूप में पेश करेंगे। इस उद्देश्य को हम तीन क्रमों में प्राप्त करेंगे।

पहला क्रम

इस क्रम में, जो दो वर्ष तक भी चल सकता है, हम अपने कश्मीरी भाइयों को सत्ता के ढाँचे पर राजनैतिक घुसपैठ और 'पाँचवें कालम' के बल पर अधिकार करने में सहायता देंगे। इसके लिए हमें कश्मीर के सत्ताधारी नेताओं में से कुछ अपने अनुकूल राजनेता छाँटने होंगे। सत्ता के सभी प्रभावी अंगों पर अधिकार जमाने में वे हमारी सहायता करेंगे। सार रूप में हमारी योजना, जिसे ऑपरेशन टोपाक कहा जाएगा, के मुख्य अंश होंगे—

१. कश्मीर सरकार के विरुद्ध संयुक्त विद्रोही कार्रवाई जिससे वह टूटे तो नहीं परन्तु धेरे में आ जाय। हमारा प्रयत्न होगा कि भारत सरकार कश्मीर में केन्द्रीय शासन स्थापित न करे।

२. अपने चुनींदा लोगों को प्रशासन के सब प्रमुख पदों पर आसीन कराएँ ताकि वे पुलिस, वित्तीय संस्थाओं और संचार साधनों में अन्दर से सेंध लगाएँ।

३. विद्यार्थियों और किसानों में कुछ मजहबी मुद्दों को लेकर भारत-विरोधी भावना जगाएँ ताकि वे सरकार-विरोधी प्रदर्शन करें और हिंसक कार्रवाइयों में सक्रिय योगदान दें।

४. सिक्ख उग्रवादियों के सहयोग से जम्मू में भी आतंक और अफरा-तफरी पैदा करें ताकि हिन्दुओं का ध्यान कश्मीर घाटी से हटकर जम्मू पर केन्द्रित हो जाय।

दूसरा क्रम

(क) सियाचीन, कारगिल तथा राजौरी-पुंछ के मोर्चों पर दबाव बढ़ाया जाय ताकि भारत सरकार को भारतीय सेना का एक बड़ा भाग कश्मीर घाटी के बाहर लगाना पड़े।

(ख) श्रीनगर, कुपवारा, मटन, बारामूला, बांदीपुर और चौकीवाला में स्थित सैनिक भण्डारों पर निश्चित समय पर अन्दर से घात किया जाय।

(ग) अन्तिम घड़ी में 'आज़ाद कश्मीर' के अवकाशप्राप्त सैनिक अफ़सरों के नेतृत्व में विशेष सैनिक दस्ते, जिनमें अफ़गान मुजाहिद भी हो सकते हैं, हवाई अड्डों और रेडियो स्टेशनों को नष्ट कर दें तथा बनिहाल सुरंग और कारगिल लेह राजमार्ग को बन्द कर दें।

तिसरा क्रम

तीसरे क्रम में घाटी को मुक्त कराने और वहाँ इस्लामी राज्य स्थापित करने का काम पूरा करना होगा।

पहले क्रम की शुरुआत १९८८ में की गई। उस वर्ष मुस्लिम फ्रण्ट के विधायकों ने विधानसभा से त्याग-पत्र देकर जमाते इस्लामी, जे० के० एल० एफ० तथा हिज्रवे इस्लामी के भूमिगत आतंकवादियों को खुलकर समर्थन देना शुरू किया। फ़ारूक अब्दुल्ला ने उनकी गतिविधियों की अनदेखी की, परन्तु उसने प्रधानमन्त्री राजीव गांधी को अपने हाथ में रखा। इसलिए उसने राष्ट्रवादियों और प्रेस की आलोचना की परवाह नहीं की। राज्यपाल जगमोहन बदलती स्थिति की गम्भीरता, फ़ारूक अब्दुल्ला की संदिग्ध भूमिका के सम्बन्ध में केन्द्र को रिपोर्ट भेजता रहा, परन्तु राजीव गांधी की सरकार ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया।

अगस्त, १९८८ में जनरल जिया की एक हवाई दुर्घटना में मृत्यु हो जाने से इस योजना के कार्यान्वयन में कोई बाधा नहीं पड़ी। पाकिस्तान के

राष्ट्रपति और सैनिक नेताओं ने इस योजना पर अमल जारी रखा। चुनावों के बाद प्रधानमंत्री बनने पर बेनज्जीर भुट्टो ने भी कश्मीर-सम्बन्धी जिया-उल-हक की नीति को जारी रखा। १९८६ में पाकिस्तान ने 'ज़रवे मोमिन' नाम की अपनी सबसे बड़ी सैनिक मशक सम्पन्न की। इसके बाद पाकिस्तान के सेनापति जनरल असलम बेग ने कहा कि पाकिस्तान की सेनाएँ सुरक्षा और आक्रमण दोनों के लिए तैयार हैं।

नवम्बर, १९८६ में भारत में सत्ता बदली। नई सरकार में मुफ्ती मोहम्मद सईद, जिसकी इसके पूर्व कश्मीर में भूमिका सन्दिग्ध रही थी, को गृहमंत्री बनाया गया। इसके कुछ दिन बाद उसकी पुत्री रूबिया का अपहरण किया गया और इसके बदले में पाँच खूँखार आतंकवादी रिहा कर दिये गए। सारी घाटी में इन आतंकवादियों का भव्य स्वागत हुआ। इस घटना ने सारे भारत को झकझोर डाला। सन्देह व्यक्त किया जाने लगा कि रूबिया अपहरण काण्ड पूर्वनियोजित था। इससे वी० पी० सरकार की स्थिति खराब हुई और इसे जनमत के सामने झुककर जगमोहन को जम्मू-कश्मीर का राज्यपाल नियुक्त करना पड़ा।

जगमोहन कश्मीर में १९८८ तक राज्यपाल रह चुका था और उसे फारूक अब्दुल्ला की सन्दिग्ध गतिविधियों की पूरी जानकारी थी। इसलिए उसके राज्यपाल नियुक्त होते ही फारूक अब्दुल्ला ने मुख्यमंत्री-पद से त्यागपत्र दे दिया। परन्तु पद त्यागने से पहले उसने ७५ खूँखार और पाक प्रशिक्षित आतंकवादियों को नज़रबन्दी से मुक्त कर दिया। इसके बाद कश्मीर में राज्यपाल का शासन कायम कर दिया गया।

कश्मीर में केन्द्र का शासन जगमोहन के नेतृत्व में कायम होना पाकिस्तान की योजना पर एक गहरी चोट थी। तब इसने कश्मीर में सीधा दखल देना शुरू किया। कश्मीर से कश्मीरी पंडितों को निकालने की योजना बनाई गई और साथ ही भारत में पाकिस्तान-परस्त और अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों ने जगमोहन को कश्मीर से वापस बुलाने की मुहिम तेज़ कर दी।

१९९० के मध्य में जगमोहन को वापस बुला लिया गया और कश्मीर घाटी को हिन्दुओं से खाली करा लिया गया। उसके बाद से अलगाववादी तत्त्वों की गतिविधियाँ पाकिस्तान के खुले समर्थन के बल पर बहुत तेज़ हो

गई हैं। अनुमान है कि पाँच हजार के लगभग कश्मीरी युवक पाकिस्तान से प्रशिक्षण पाकर और हथियार लेकर घाटी में आ चुके हैं और लगभग इतने ही अभी पाकिस्तान और तथाकथित आज़ाद कश्मीर में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं। इनमें नेशनल कॉन्फ़ेंस के भी बहुत-से कार्यकर्ता हैं। फारूक अब्दुल्ला ने स्वयं एक प्रेस भेंट में स्वीकार किया कि उसने अपनी पार्टी के युवकों को प्रशिक्षण पाने और शस्त्र लाने के लिए पाकिस्तान जाने की सलाह दी थी। कश्मीर प्रशासन के लगभग सभी मुसलमान कर्मचारी खुलकर कश्मीरी मुजाहिदों का साथ दे रहे हैं। पाकिस्तान में प्रशिक्षित आतंकवादियों को 'मुजाहिद' कहा जाता है। उनके पास अब आधुनिकतम राइफ़्लें, मशीनगनों, रॉकेट और प्रेक्षण अस्त्र हैं। जिस प्रकार वे सशस्त्र सेना के साथ जमकर लड़ाई करते हैं, उससे लगता है कि उनके साथ कुछ पाक सैनिक और अफ़ग़ान मुजाहिद भी कार्यरत हैं।

इस प्रकार अब पाकिस्तान की योजना के पहले दो क्रम तो लगभग पूरी तरह अमल में आ चुके हैं और तीसरे क्रम पर अमल करने की तैयारी हो चुकी है। जो काम औरंगज़ेब नहीं कर सका था, वह स्वतन्त्र भारत में वी० पी० सरकार के राज्य में सम्पन्न हो चुका है। इससे बढ़कर भारत के लिए लज्जा और अपमान की और कोई बात नहीं हो सकती।

अब अलगाववादी तत्त्व जम्मू के मुस्लिम-बहुल डोडा और पुँछ क्षेत्र में भी सक्रिय हो चुके हैं। पाकिस्तान इस स्थिति का लाभ उठाने और कश्मीर को हथियाने के लिए अन्तिम बार कभी भी कर सकता है। सोवियत रूस में कम्युनिस्ट तन्त्र खत्म हो जाने और सोवियत ब्लॉक के अन्त और उसके कारण अमरीका के पाकिस्तान और भारत के प्रति बदले रुख तथा खाड़ी-युद्ध ने पाकिस्तान की योजना में कुछ व्यवधान डाला है। परन्तु दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ के कुवैत-सम्बन्धी प्रस्तावों के लिए अमरीका द्वारा दी गई सैनिक कार्रवाई ने पाकिस्तान को प्रोत्साहन दिया है कि वह भी कश्मीर-सम्बन्धी सुरक्षा परिषद् के प्रस्तावों के समर्थन में कश्मीर में सैनिक कार्रवाई की माँग उठाए।

इस प्रकार कश्मीर को बलात् हथियाने का पाकिस्तान का प्रच्छन्न युद्ध अब अन्तिम दौर की ओर बढ़ रहा है। जो उद्देश्य पाकिस्तान १९४६-४७,

१९६५ और १९७१ के खुले युद्धों से पूरा न कर सका, वह अब उसकी ओर निश्चित रूप में प्रच्छन्न युद्ध के द्वारा बढ़ रहा है। इसलिए कश्मीर के भारत के हाथ से निकल जाने का खतरा जितना इस समय स्पष्ट दीखता है, उतना पहले कभी नहीं था। इसलिए आवश्यक है कि भारत सरकार और जनता कश्मीर के वचाव के लिए अपनी कश्मीर-सम्बन्धी चिन्तन और नीति पर पुनर्विचार करे और समय रहते प्रभावी पग उठाए। वचाव का रास्ता है परन्तु उस पर चलने के लिए भारत के नीति-निर्धारकों को पूर्वाग्रहों और नेहरू-नीति को छोड़कर सरदार पटेल की यथार्थवादी और राष्ट्रवादी नीति अपनानी होगी।

हारी बाज़ी को जीतने के उपाय

१९४७ से १९६१ तक जम्मू-कश्मीर रियासत के घटना-चक्र रियासत की सेना के डोगरा जवानों, भारत के सैनिकों, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों और अन्य राष्ट्रवादियों के शौर्य और बलिदानों तथा हिन्दुस्तान के राजनैतिक नेताओं के दीवालिएपन और उनकी दुर्नीतियों के दुष्परिणामों की पूर्ववर्णित अनकही कहानी से यह स्पष्ट हो गया है कि भारत जम्मू-कश्मीर में जीती बाज़ी लगभग हार चुका है। उसके तथाकथित सैक्यूलरवाद का भांडा चौराहे पर फूट चुका है और कश्मीर के मुसलमानों ने सिद्ध कर दिया है कि सैक्यूलरवाद और इस्लामवाद एक साथ नहीं चल सकते और उनका आस्था-केन्द्र इस्लाम है, कोई देश या दल नहीं।

१९४७-४८ के युद्ध को बन्द करने के लिए १ जनवरी, १९४९ को लागू किये गए युद्धविराम ने महाराजा गुलाबसिंह द्वारा बनाए गए विशाल राज्य को लगभग उसी ढंग से विभाजित कर दिया जैसे १५ अगस्त, १९४७ को पंजाब और बंगाल का विभाजन हुआ था। इसके तीन मुस्लिम-बहुल क्षेत्र—मीरपुर, पृच्छ, मुज़फ़्फ़राबाद का पंजाबी भाषा-भाषी क्षेत्र, गिलगित क्षेत्र और कारगिल को छोड़कर बल्टिस्तान क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में चले गए। पं० नेहरू और इन्दिरा गांधी ने बार-बार इस भाग को पाकिस्तान के पास रहने देने और युद्धबन्दी रेखा को भारत और पाकिस्तान के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सीमा घोषित करने का सुझाव देकर व्यावहारिक रूप में इस क्षेत्र पर भारत का दावा छोड़ दिया था। न्यायमूर्ति डिकसन का सीमित क्षेत्र में जनमत कराने का प्रस्ताव, जिसका यू० एन० सुरक्षा परिषद् ने अनुमोदन कर दिया था, के अनुसार भी यह क्षेत्र पाकिस्तान के पास रहना है। १९७२

की शिमला सन्धि में भी भारत सरकार यथास्थिति को स्वीकार कर चुकी है। अमरीका भी इस रेखा को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा मान लेने का सुझाव दे चुका है।

१९६५ के युद्ध में इस पाक-अधिकृत क्षेत्र का जो भाग हमारी सेना ने वापस लिया था, उसे भी वापस करके भारत सरकार ने भी इच्छा या अनिच्छा से उस क्षेत्र पर पाकिस्तान का दावा व्यावहारिक रूप में स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार भारत वस्तुतः पाक-अधिकृत क्षेत्र पर अपना दावा छोड़ चुका है।

दूसरी ओर पाकिस्तान ने कश्मीर घाटी, जो रियासत का एकमात्र मुस्लिम-बहुल क्षेत्र है, जो अभी तक भारत के पास है, पर अपना दावा नहीं छोड़ा। पाक नेताओं का कहना है कि जिस आधार पर शेष भारत का वँटवारा किया गया और मुस्लिम-बहुल क्षेत्र पाकिस्तान को दिये गए, उसी आधार पर कश्मीर घाटी भी उसे मिलनी चाहिए। इस दावे को कार्यरूप देने के लिए वह तीन युद्ध लड़ चुका है और अब चौथा बेनामी युद्ध लड़ रहा है। जो सफलता उसे १९६५ और १९७१ में नहीं मिली वह उसे अब मिल रही है। कश्मीर घाटी को सारे हिन्दुओं से खाली कराके पाकिस्तान ने घाटी में भारत के पक्षधर लोगों का सफ़ाया कर दिया है। कश्मीर घाटी के लगभग सारे मुसलमान, प्रशासनिक अधिकारी, कर्मचारी और पुलिस अलगाववादी संगठनों के साथ हैं। वहाँ कुछ मतभेद इस बात पर अवश्य है कि कश्मीर घाटी स्वतन्त्र इस्लामी राज्य बने या पाकिस्तान में शामिल हो। परन्तु भारत से अलग होने के मामले में लगभग सभी एकमत हैं। किन्तु सुरक्षा परिषद् के जनमत-संबंधी प्रस्ताव के अनुसार तो कश्मीर के लोगों को केवल भारत या पाकिस्तान में से एक को चुनना है। इसमें स्वतन्त्र कश्मीर का विकल्प नहीं है।

शेख अब्दुल्ला की तरह कश्मीर के आज के कुछ मुस्लिम नेता, जिनमें फ़ारूक अब्दुल्ला भी शामिल है, कश्मीर के पाकिस्तान में शामिल होने से भारत के अन्तर्गत स्वतन्त्रता से कुछ कम ऐसी स्थिति, जिसमें वास्तविक सत्ता कश्मीरी मुख्यमन्त्री के हाथ में हो, पसन्द करते हैं। वे जानते हैं कि पाकिस्तान में मिलने से कश्मीर घाटी पंजाबी मुसलमानों और पठानों का

विलासगृह बन जाएगी और उसके शासकों की गर्दन पर सदा इस्लामवाद की तलवार लटकती रहेगी।

इस प्रकार के लोगों का चिन्तन भारत के मुसलमानों के एक वर्ग के चिन्तन से भी प्रभावित हो रहा है। इस वर्ग का कहना है कि कश्मीर के भारत के साथ जुड़े रहने से शेष भारत में मुसलमानों को बल मिलता है। यदि मुस्लिम-बहुल कश्मीर भारत से अलग हो गया तो खंडित भारत को हिन्दू राज्य घोषित करने की सम्भावना बढ़ जाएगी।

स्वतन्त्र इस्लामी कश्मीर के पक्षधर पाकिस्तान में भी हैं। वे समझते हैं कि स्वतन्त्र इस्लामी कश्मीर भी हर दृष्टि से पाकिस्तान पर निर्भर होगा और वस्तुतः पाकिस्तान का अंग जैसा ही होगा परन्तु स्वतन्त्र रहने से इसे संसार के अन्य इस्लामी देशों से अधिक सहायता मिल सकेगी और संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी इस्लामी देशों का एक मत और बढ़ जाएगा।

इस प्रकार गत ४३ वर्षों में कश्मीर घाटी पर भारत की जनता का अरबों रुपया खर्च करने और हज़ारों जवानों का बलिदान देने के बाद भी वहाँ भारत की स्थिति दयनीय है। भारत के सुरक्षाकर्मी वहाँ एक बहुत कठिन लड़ाई लड़ रहे हैं। यह जानते हुए कि उग्रवादी आतंकवादियों को साधारण जनता और कश्मीर सरकार का पूरा समर्थन प्राप्त है, वे उनके विरुद्ध प्रभावी कार्रवाई नहीं कर सकते। फलस्वरूप ज्यों-ज्यों यह युद्ध लम्बा हो रहा है त्यों-त्यों पाकिस्तान की स्थिति घाटी में मज़बूत होती जा रही है। इसलिए भारत की जनता और सरकार को इस स्थिति से निकलने के लिए नए सिरे से सोचना होगा।

समस्या के दो पहलू हैं—एक सैनिक और दूसरा राजनैतिक। जहाँ तक सैनिक पहलू का सम्बन्ध है वह अब पहले से अधिक जटिल है। खुली लड़ाई में तो भारत पाकिस्तान पर प्रत्याक्रमण करके पाक सेना का ध्यान कश्मीर से हटा सकता है परन्तु इस समय पाकिस्तान वहाँ जो बेनामी युद्ध—बार-बाइ-प्राँक्सी—लड़ रहा है, उसमें उसका पलड़ा भारी हो रहा है इसलिए भारतीय सेना को बहुत बच-बचकर सुरक्षात्मक लड़ाई लड़नी पड़ रही है। यह जानते हुए भी कि कश्मीर की लगभग सारी मुस्लिम जनता पाकिस्तान द्वारा प्रशिक्षित और समर्थित विद्रोहियों के साथ है, भारत के सुरक्षाकर्मियों

को अपनी हर कार्रवाई में सिविल आवादी के बचाव का ध्यान रखना पड़ता है। इसलिए सैनिक क्षेत्र में स्थिति को अनुकूल बनाने के लिए भारत को या तो पाकिस्तान पर प्रभावी दबाव डालना होगा ताकि वह विद्रोहियों को सहायता देना बन्द करे या उसे पाकिस्तान के साथ एक और युद्ध लड़ने के लिए तैयार होना पड़ेगा। उसके साथ-साथ कश्मीर घाटी को कुछ समय के लिए सेना के हवाले करके सेना को स्थिति पर काबू पाने के लिए सभी उपाय अपनाने की खुली छूट देनी होगी। युद्ध और शान्ति एक साथ नहीं चल सकते। युद्ध तो युद्ध की तरह ही लड़ना होगा। दुर्भाग्य से भारत के अन्दर पाकिस्तान के एजेंट इस प्रकार राजनैतिक दलों में घुसे हुए हैं कि राष्ट्रवादी और यथार्थवादी रुख अपनाने वालों को हर कदम फूँक-फूँककर रखना पड़ता है। कश्मीर में सरकार का डर और कानून का राज खत्म हो चुका है। उन्हें बहाल करने के लिए एक बार कड़ाई बरतनी पड़ेगी। राजनैतिक कारणों से सैनिक पहलू को सैनिक ढंग से हल करने में जितनी देर की जाएगी, स्थिति उतनी ही काबू के बाहर होती जाएगी।

जहाँ तक राजनैतिक पहलू का प्रश्न है, सबसे पहले कश्मीरी मुसलमानों के मन का यह भाव कि कश्मीर के भविष्य का फैसला अभी होना है और कि वह भारत का अटूट अंग नहीं है, निकालना होगा। विलय के साथ यह भाव खत्म हो जाना चाहिए था। शेख अब्दुल्ला ने प्रयत्नपूर्वक इस भाव को जगाए रखा। संविधान की अस्थायी धारा ३७०, जिसके अनुसार कश्मीर का अलग संविधान, अलग झण्डा और अलग नागरिकता कानून है, इस भाव को जगाए रखने का सबसे बड़ा माध्यम बन चुका है। इसलिए सर्वप्रथम भारत के संविधान की इस धारा को निरस्त करके भारत का संविधान और नागरिकता कानून जम्मू-कश्मीर पर लागू करना होगा। इसे निरस्त करने के लिए संविधान में संशोधन करने की आवश्यकता भी नहीं है। इस धारा की उपधारा ३ के अनुसार राष्ट्रपति सार्वजनिक विज्ञप्ति के द्वारा इस धारा को आंशिक रूप में या पूरी तरह अप्रभावी घोषित कर सकते हैं। इस उपधारा के अनुसार ऐसा करने से पहले कश्मीर की संविधान सभा की अनुमति लेने की बात अब निरर्थक हो चुकी है। वह संविधान सभा अपना काम करके

१९५६ में भंग हो गई थी। इसलिए अब उसकी अनुमति का प्रश्न ही नहीं रहा।

अनिश्चितता का एक दूसरा कारण कश्मीर में संयुक्त राष्ट्रसंघ के पर्यवेक्षकों की उपस्थिति है। ये पर्यवेक्षक युद्धबन्दी रेखा के उल्लंघन की रोकथाम के लिए नियुक्त किये गए थे। अब वह रेखा स्थायी हो चुकी है और पाकिस्तान सुरक्षा परिषद् के प्रस्तावों को नकारते हुए १९६५ और १९७१ में दो बार कश्मीर पर बलात् अधिकार करने का असफल प्रयत्न कर चुका है। इसलिए अब उन प्रस्तावों का कोई मतलब नहीं रह गया। इसलिए आवश्यकता है कि भारत सरकार औपचारिक रूप में सुरक्षा परिषद् से अपनी कश्मीर-सम्बन्धी शिकायत वापस ले और यू० एन० के पर्यवेक्षकों को घाटी छोड़ने का आदेश दे।

जनमत-सम्बन्धी प्रस्ताव का भी अब कोई मतलब नहीं। संसार में कोई भी प्रभुसत्तासम्पन्न देश अपने किसी भाग को आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं देता। भारत के संविधान ने भारत के किसी भाग को भारत से अलग होने या करने पर स्पष्ट प्रतिबन्ध लगा रखा है। इसलिए जैसे अमरीका के अलबामा और मिसिसिपी जैसे राज्य अमरीका से अलग नहीं हो सकते और सिन्ध पाकिस्तान से अलग नहीं हो सकता उसी प्रकार कश्मीर भारत से अलग नहीं हो सकता।

इसलिए यह स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए कि कश्मीर समस्या का जो भी राजनैतिक हल होगा वह भारत के संविधान के अन्तर्गत ही होगा।

भारत के संविधान के अन्तर्गत कोई हल ढूँढ़ने के लिए पहली आवश्यकता जम्मू-कश्मीर राज्य के पुनर्गठन की है। इस राज्य में एकता का एकमात्र सूत्र डोगरा ताज के प्रति वफादारी थी अन्यथा लद्दाख, कश्मीर घाटी और जम्मू के बीच कुछ भी साँझा नहीं है। कश्मीर घाटी चहुँ ओर से हिमालय की उच्च शृंखलाओं द्वारा लद्दाख और जम्मू से कटी हुई है।

गत ४३ वर्ष के अनुभव के आधार पर अब यह बात प्रायः निश्चित हो गई है कि बड़े राज्य लोकतन्त्र और विकास की दृष्टि से उपयुक्त नहीं हैं। इतिहास, भूगोल, परम्परा, भाषा और प्रशासनिक सुविधा के आधार पर बड़े-बड़े राज्यों का पुनर्गठन करने की माँग सारे देश में उठ रही है। जम्मू-

कश्मीर का इस आधार पर पुनर्गठन करना अब अनिवार्य हो चुका है।

राज्य का पुनर्गठन करके कश्मीर घाटी, जम्मू और लद्दाख को अब भारत के अलग-अलग राज्य बनाना होगा। ऐसा करने से कश्मीर की सुनिश्चित भौगोलिक और भाषाई पहचान के अनुरूप इसकी भारत के अन्तर्गत राजनैतिक पहचान भी कायम रह सकती है। इसके लिए आवश्यक होगा कि कश्मीर घाटी में राज्यभाषा कश्मीरी को बनाया जाए और उर्दू को, जिसे अब्दुल्ला ने शेष भारत से अलग रखने के लिए वहाँ थोपा था, एक ऐच्छिक भाषा का स्थान दिया जाए। कश्मीर घाटी की जनसंख्या तीस लाख के लगभग है और यह आर्थिक मामलों में आत्म-निर्भर है। यह भारत के अनेक छोटे राज्यों से बड़ा और स्वावलम्बी राज्य होगा।

कश्मीर घाटी के और रियासत के पाक-अधिकृत क्षेत्र के बीच उड़ी-टीथवाल की गैर-कश्मीरी पट्टी पड़ती है। १९४७ के पाक-आक्रमण से पहले यह क्षेत्र मुज़फ़्फराबाद ज़िले का भाग था। यहाँ के लोग लहँदा शैली की पंजाबी बोलते हैं और कश्मीरी लोगों के साथ इनका कोई मेल नहीं। अभी प्रशासनिक दृष्टि से यह क्षेत्र कश्मीर घाटी के साथ जुड़ा हुआ है। यदि इसे कश्मीर से अलग करके केन्द्रशासित बना दिया जाए तो कश्मीर घाटी पाक-अधिकृत क्षेत्र से कट जाएगी और पाकिस्तान से कश्मीर में घुसपैठ को प्रभावी ढंग से रोका जा सकेगा।

मिजोरम और अरुणाचलप्रदेश की तरह इस कश्मीर राज्य को कुछ विशेष सुविधाएँ दी जा सकती हैं ताकि इसकी कश्मीरी पहचान सुरक्षित रहे। परन्तु उसके लिए संविधान में धारा ३७० बनाए रखने की आवश्यकता नहीं होगी।

दो लाख के लगभग कश्मीरी पंडित और अन्य हिन्दू, जिन्हें घाटी से खदेड़ दिया गया है, को पुनः वहाँ लाना होगा परन्तु अब उनका पुरानी जगहों पर मुसलमानों के साथ मिलकर रहना सम्भव नहीं होगा। उनके पुनर्वास के लिए कश्मीर घाटी के दक्षिण भाग में पीरपंचाल पर्वत में बनी जवाहर सुरंग से लेकर योजिला दर्रे के मुँह तक का क्षेत्र सुरक्षित क्षेत्र घोषित करना होगा। इस क्षेत्र में मटन और श्री अमरनाथ की गुफा, जो कश्मीर में सारे देश के हिन्दुओं के पवित्रतम तीर्थस्थान हैं, के अतिरिक्त पहलगाम का

पर्यटन केन्द्र भी आ जाएगा। केन्द्र सरकार और जनता के सहयोग से इस क्षेत्र में पुनर्वास की व्यवस्था करना कठिन नहीं होगा। तीर्थ-स्थलों और पर्यटक-स्थलों के कारण इसका विकास द्रुतगति से हो सकेगा और इसका लाभ सारी घाटी को मिलेगा।

यदि कश्मीर के सम्बन्ध में इस योजना को तुरन्त लागू कर दिया जाए और इस पर दृढ़ता से अमल किया जाए तो घाटी के अनेक मुसलमान इसका स्वागत करेंगे। पाकिस्तान और पंजाबी तथा पठान मुसलमानों का उनका पुराना अनुभव बहुत कटु है। इसलिए यदि उन्हें यह विश्वास हो जाए कि भारत सरकार अलगाववादियों से निपट सकती है और कि कश्मीर के भारत के साथ विलय को खत्म नहीं किया जा सकता तो वे वस्तुस्थिति के अनुकूल अपने-आपको ढाल लेंगे। ऐसा करने से कश्मीरियों की राजनैतिक आकांक्षाएँ भी पूरी हो जाएँगी, कश्मीर की अलग पहचान बनी रहेगी और वह भारत के एक समृद्ध राज्य के रूप में आगे बढ़ सकेगा।

कश्मीर घाटी को अलग राज्य बनाने के साथ जम्मू और लद्दाख को भी न्याय मिल सकेगा। इन क्षेत्रों के लोगों की पुरानी माँग है कि उन्हें घाटी से अलग करके शेष भारत के साथ पूरी तरह मिलाया जाए और उन्हें अलग राज्य बनाया जाए। जम्मू का क्षेत्रफल और जनसंख्या हिमाचलप्रदेश से अधिक है। यह एक स्वावलम्बी विकासमान राज्य बन सकता है। लद्दाख का क्षेत्रफल जम्मू और कश्मीर से बहुत अधिक है परन्तु जनसंख्या बहुत कम है। इसे केन्द्रशासित राज्य बनाकर इसका द्रुतगति से विकास हो सकता है। लद्दाख सीधे जम्मू से भी लगता है और हिमाचलप्रदेश के लाहौल स्पीती क्षेत्र से भी। वास्तव में लद्दाख और लाहौल में बहुत-कुछ साँझा है, उन्हें मिलाकर बड़ा राज्य बनाया जा सकता है।

महाराजा गुलाबसिंह का सेनापति वज़ीर जोरावरसिंह जम्मू से किश्तवाड़ पाडर और जनसकार के रास्ते लेह गया था। उस रास्ते का फिर विकास किया जा सकता है। लाहौल और रोहतांग दर्रे के रास्ते लद्दाख चंडीगढ़ से जोड़ा जा चुका है। चंडीगढ़ से लेह जाने के लिए विमान में केवल तीस मिनट लगते हैं। इसलिए कश्मीर को अलग कर देने से लद्दाख के शेष भारत के साथ सम्बन्धों पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ेगा।

इन नए तीनों राज्यों और उड़ी-टीथवाल पट्टी के विकास-कार्य में तालमेल बनाए रखने के लिए इन सबके लिए एक ही राज्यपाल और एक ही हाईकोर्ट की व्यवस्था की जा सकती है। पूर्वी क्षेत्रों के सात राज्यों के लिए बनाई गई नॉर्थ-ईस्ट काउंसिल की तरह इन राज्यों के लिए एक नॉर्थ-वेस्ट काउंसिल बनाई जा सकती है। ऐसा करने से इनके विकास में समरसता लाई जा सकती है।

इस यथार्थवादी योजना को अपनाने से कश्मीर-सम्बन्धी पुरानी गलतियों का बहुत-कुछ परिमार्जन हो सकता है और समस्या का ऐसा स्थायी समाधान हो सकता है जो इस राज्य के तीनों क्षेत्रों के लोगों के हितों की रक्षा करता हुआ भारत की एकता को भी अक्षुण्ण रख सकेगा।

पाकिस्तान की ओर से कश्मीर घाटी के लिए वावेला होता रहेगा। उसका एकमात्र प्रभावी और यथार्थवादी उत्तर भारत द्वारा लाहौर और थारपारकर पर जवाबी दावा पेश करना है। ये क्षेत्र भी भारत के साथ लगते हैं और विभाजन के समय वहाँ हिन्दुओं का बहुमत था। जिस आधार पर पाकिस्तान कश्मीर घाटी पर दावा करता है, उसी आधार पर भारत लाहौर और थारपारकर पर दावा कर सकता है। पाकिस्तान के प्रति जैसे को तैसा की नीति अपनाने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है।

उपसंहार

पूर्व अध्यायों में दिये गए कश्मीर-सम्बन्धी घटनाचक्र के तथ्यात्मक विवेचन, भारत की सैनिक और संवैधानिक जीत को राजनैतिक और कूट-नीतिक हार में बदलने वाली भूलों का वस्तुपरक विश्लेषण और उन भूलों के सुधार के लिये दिए गए उपायों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कश्मीर समस्या को अभी भी राष्ट्रहित के अनुरूप सुलझाया जा सकता है, परन्तु उसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता ऐसे नेतृत्व की है, जिसमें पुरानी गलतियों को स्वीकार करने का नैतिक साहस हो और जो समस्या को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखने, समझने और सुलझाने के लिए न केवल कृत-संकल्प हो अपितु उसमें आवश्यक इच्छाशक्ति भी हो।

१९६० के नवम्बर मास में वी० पी० सिंह सरकार के पतन के बाद कांग्रेस के समर्थन से बनी नई सरकार के प्रधानमन्त्री श्री चन्द्रशेखर ने इस दिशा में ३० नवम्बर, १९६० के सार्क राष्ट्रों के मालद्वीप की राजधानी माली में हुए शिखर सम्मेलन के अवसर पर एक महत्वपूर्ण पहल की थी। पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री शरीफ़ निवाज के साथ अपनी पहली भेंट में ही उन्होंने उसे कहा कि पाकिस्तान को यह समझ लेना चाहिए कि यदि पाकिस्तान कश्मीर घाटी के मुस्लिम-बहुल क्षेत्र होने के कारण उसे पाकिस्तान का अंग बनाने के लिए कटिबद्ध है तो उसे कश्मीर के साथ-साथ शेष भारत के १० करोड़ मुसलमानों को लेने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। जिस सिद्धान्त के आधार पर पाकिस्तान मुस्लिम-बहुल कश्मीर माँगता है, उसी सिद्धान्त के आधार पर उसे पाकिस्तान की माँग करने और १९४६ के निर्णायक चुनाव में इस माँग के पक्ष में मत देने वाले मुसलमानों को भी

जगह देनी होगी ।

चन्द्रशेखर द्वारा निवाज शरीफ को कही गई इस बात को अभी तक सार्वजनिक रूप में नहीं कहा गया है, परन्तु यह बात इतनी सारगर्भित और महत्वपूर्ण है कि इसे खुले रूप में कहना अत्यावश्यक है । यदि पाकिस्तान और भारत में रहने वाले उसके समर्थकों को यह बात दृढ़ता से सार्वजनिक रूप में कही जाय तो समस्या का यथार्थवादी हल निकालना आसान हो जाय ।

कश्मीर समस्या का यथार्थवादी हल निकालने के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट कांग्रेस के नेताओं की नेहरूवादी सोच है । फ़ारूक अब्दुल्ला अपने पिता की तरह इसका लाभ उठा रहा है । स्वर्गीय राजीव गांधी भी उसी प्रकार उसके हाथों में खेलते रहे जैसे पं० नेहरू शेख अब्दुल्ला के हाथ में खेलते रहे ।

२१ मई, १९९१ को अपनी हत्या के पूर्व विमान में न्यूयार्क टाइम्स के प्रतिनिधि को राजीव गांधी द्वारा दी गई भेंट में राजीव गांधी ने बताया कि वे जिया-उल-हक की सहमति से कश्मीर समस्या का हल निकालने का प्रयत्न कर रहे थे और उसकी रूप-रेखा भी तैयार कर ली गई थी परन्तु अगस्त, १९८८ में जिया-उल-हक की हत्या हो जाने के कारण वह योजना सिरें न चढ़ सकी ।

राजीव गांधी और जिया-उल-हक कौन-सा हल चाहते थे, इसके सम्बन्ध में अधिकार वाणी से कुछ कहना सम्भव नहीं क्योंकि वे दोनों अब दिवंगत हो चुके हैं, परन्तु राजीव गांधी और फ़ारूक अब्दुल्ला की मानसिकता और कश्मीर-सम्बन्धी सोच तथा योजना पर कश्मीर के भूतपूर्व राज्यपाल श्री जगमोहन ने अपनी प्रकाशनाधीन कश्मीर सम्बन्धी पुस्तक तथा २१ अप्रैल, १९९१ को राजीव गांधी को लिखे अपने खुले पत्र में कुछ प्रकाश डाला है । उससे पता लगता है कि राजीव गांधी और फ़ारूक अब्दुल्ला को पाकिस्तान की 'टोपाक' योजना का न केवल ज्ञान था, अपितु उन्होंने जाने या अनजाने इस योजना को सफल बनाने में सहायता दी थी ।

श्री जगमोहन द्वारा उजागर किये गए तथ्यों के अनुसार राजीव और कांग्रेस समर्थित मुख्यमन्त्री के रूप में फ़ारूक अब्दुल्ला अपने कार्यकाल के

अन्तिम दिन तक न केवल पाकिस्तान और उसके एजेण्टों की गतिविधियों को अनदेखी करते रहे अपितु ऐसे पग भी उठाते रहे जिनसे पाकिस्तानी एजेण्टों को बल मिलता रहा।

इस दृष्टि से फ़ारूक अब्दुल्ला द्वारा कश्मीर के मुख्यमन्त्री-पद से त्याग-पत्र देने के बाद ७ फ़रवरी, १९६१ को एक प्रमुख समाचार-पत्र को दी गई भेंट-वार्ता में किये गए निम्न रहस्योद्घाटन का विशेष महत्त्व है। उसने कहा, “मैंने अपने दल के लोगों को आदेश दिया कि वे सीमा पार करके पाकिस्तान-अधिकृत क्षेत्र में जाकर सैनिक शिक्षा और हथियार प्राप्त करें और इस बात का ध्यान रखते हुए कि वे पकड़े न जाएँ, सब-कुछ करें।”

फ़ारूक अब्दुल्ला की इस स्वीकारोक्ति के बाद कश्मीर घाटी के हाल के घटनाचक्र के लिए केवल पाकिस्तान को दोष देना ग़लत होगा। कटु वास्तविकता यह है कि भारत सरकार और भारत सरकार द्वारा समर्थित, पालित और पोषित शेख अब्दुल्ला और फ़ारूक की सरकारें ऐसी नीतियाँ अपनाती रहीं और ऐसा आचरण करती रहीं जिससे पाकिस्तान और उसके कश्मीर घाटी के अन्दर के एजेण्टों को लगातार प्रोत्साहन और बल मिलता रहा।

इस प्रकार कश्मीर घाटी की वर्तमान स्थिति के लिए राजीव, वी० पी० सिंह और फ़ारूक अब्दुल्ला की दूषित नीतियाँ और फ़ारूक अब्दुल्ला का देशद्रोही आचरण सर्वाधिक ज़िम्मेदार है। एक शत्रु देश के नाते पाकिस्तान द्वारा उनकी ग़लत नीतियों का लाभ न उठाना समझ में आता है परन्तु खण्डित भारत की एकता और सैक्यूलरवाद के उन ठेकेदारों का आचरण अक्षम्य है।

चन्द्रशेखर सरकार के पतन, राजीव गांधी की हत्या और मई-जून में सम्पन्न चुनाव के बाद एक नई स्थिति पैदा हुई है। किसी भी दल को दसवीं लोकसभा में भी स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। सबसे बड़े दल के रूप में कांग्रेस ने श्री वी० पी० नरसिंह राव के प्रधानमन्त्रित्व में नई अल्पमत सरकार बनाई है। ११६ स्थानों पर विजय प्राप्त करके भारतीय जनता पार्टी विपक्ष में सबसे बड़े दल के रूप में उभरी है। शिव सेना ने फिर चार स्थान जीते हैं। इस प्रकार राष्ट्रवादी विपक्ष अब काफी मज़बूत है। परन्तु अस्थिरता का

वातावरण पूर्ववत् है। राजनैतिक प्रेक्षकों और चिन्तकों के अनुसार यह सरकार दो वर्ष काट जाए तो बड़ी बात होगी।

इस स्थिति का लाभ पाकिस्तान और उसके एजेण्टों ने अभी से उठाना शुरू कर दिया है। जून, १९६१ के अन्त में तेल और गैस आयोग के बड़े अधिकारी श्री दुराई स्वामी का श्रीनगर में अपहरण करके पाकिस्तानी तत्त्वों ने लगभग वही स्थिति पैदा कर दी है जो नवम्बर, १९८६ में उन्होंने गृहमन्त्री मुफ्ती मोहम्मद सईद की पुत्री का अपहरण करके पैदा की थी। दुराई स्वामी को छुड़ाने के लिए फिर कुछ कुख्यात आतंकवादी छोड़े जाएँगे जिससे विद्रोहियों के हौसले और बुलन्द होंगे।

दूसरी ओर पाकिस्तान सरकार ने तथाकथित आज़ाद कश्मीर में कश्मीरी आतंकवादियों के प्रशिक्षण केन्द्र का प्रबन्ध स्वयं सँभाल लिया है और साथ ही अफ़ग़ान विद्रोहियों को भी बड़ी संख्या में कश्मीर घाटी और इसके साथ लगे जम्मू केन्द्र के पुँछ क्षेत्र में भेजने की योजना बनाई है। लगता है कि टोपाक योजना का तीसरा चरण, जिसके अनुसार पाक सेना खुलकर पाक-परस्त कश्मीरी विद्रोहियों की सहायता के लिए आगे बढ़ेगी, पर अब अमल होना शुरू हो गया है।

इसी बीच एक और घटना घटी है जिसका कश्मीर की स्थिति पर भारत के अनुकूल प्रभाव पड़ सकता है। २४ जून, १९६१ को कुछ आतंकवादियों ने श्रीनगर की डल झील में स्थित एक हाउस बोट में घुसकर आठ पर्यटकों को, जिनमें छः इस्त्राइली थे, बन्धक बना लिया। परन्तु एक इस्त्राइली बन्धक ने अद्भुत शौर्य और हिम्मत दिखाकर रस्सी से जकड़े अपने हाथों को किसी प्रकार मुक्त करके आतंकवादियों की बन्दूक छीनकर उन पर हमला किया। इस संघर्ष में एक इस्त्राइली और दो आतंकवादी मारे गए। तीन इस्त्राइली घायल हो गए और एक इस्त्राइली भागने के प्रयत्न में आतंकवादियों के हाथ में पड़ गया। शेष दो बन्धक महिलाएँ थीं, उन्हें भागते हुए आतंकवादियों ने मुक्त कर दिया।

इस घटना के दो परिणाम निकले हैं। एक ओर उस वीर इस्त्राइली ने अपने शौर्य से अपने देश का नाम ऊँचा किया है, दूसरी ओर इस्त्राइलियों पर

हाथ डालकर और एक इस्त्राइली को बन्धक बनाकर आतंकवादियों ने इस्त्राइल और संसार-भर में फैले इसके समर्थकों को भी एक प्रकार से चुनौती दी है। इस्त्राइल न केवल स्वयं सशक्त राष्ट्र है अपितु इस्त्राइली लाँबी का प्रभाव संसार-भर में, विशेष रूप में अमरीका में बहुत है। इसी कारण आतंकवादियों को इस्त्राइली बन्धक को बिना किसी शर्त के छोड़ना भी पड़ा।

इस घटना से भारत सरकार एक आवश्यक सीख ले सकती है। इस्त्राइल और इस्त्राइली लोग इस्लामी आतंकवाद के पहले शिकार थे और अब भी हैं। परन्तु इस्त्राइलियों ने कभी आतंकवादियों के साथ समझौता नहीं किया। उसने अपने लोगों को आतंकवाद की बलि चढ़ने दिया पर आतंकवादियों के दबाव में आकर कोई शर्त नहीं मानी और उन्हें ईंट का जवाब पत्थर से दिया।

इटली की सरकार ने भी ऐसा ही किया। उन्होंने अपने पूर्व-प्रधानमन्त्री को, जिसे आतंकवादियों ने बन्धक बना लिया था, मरने दिया परन्तु आतंकवादियों की कोई शर्त नहीं मानी।

जब तक आतंकवादियों को लगता रहेगा कि वे किसी प्रमुख व्यक्ति या उसके रिश्तेदार को बन्धक बनाकर अपने साथियों को छुड़वा सकते हैं वे इस रास्ते पर चलते रहेंगे। इसलिए आवश्यक है कि कुछ बड़े स्तर के बन्धकों की बलि देकर और आतंकवादियों की कोई शर्त मानने के बजाय उन पर सख्त चोट करने का रास्ता अपनाएँ। इसी से आतंकवाद समाप्त हो सकता है।

सम्प्रदायवादियों, अलगाववादियों और आतंकवादियों के प्रति तुष्टि-करण की नीति अपनाकर भारत के नेताओं ने गत ५० वर्षों में देश और राष्ट्र का बहुत बड़ा अहित किया है। इस नीति को समाप्त करना होगा।

पिछले अध्याय में दिये गए सुझाव पर अविलम्ब अमल करने और कश्मीर घाटी को कुछ समय के लिए सेना के नियन्त्रण में देने से ही स्थिति सुधारी जा सकेगी, अन्यथा कश्मीर के साथ जम्मू और लद्दाख के भी भारत के हाथ से निकल जाने की स्थिति बन सकती है।

कश्मीर की स्थिति नरसिंह राव की सरकार के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। यह उसकी परीक्षा भी है। यदि नरसिंह राव ने कश्मीर-सम्बन्धी नेहरू नीति छोड़कर सरदार पटेल के चिन्तन के अनुरूप यथार्थवादी, राष्ट्रवादी और दृढ़ नीति अपनाई तो कश्मीर भी बच जाएगा और नरसिंह राव भी अमर हो जाएँगे। वे ऐसा कर पाएँगे या नहीं, इसका उत्तर समय देगा।

□ □ □

